महाकविकालिदासप्रणीतम्

रघुवंशमहाकाव्यम्

द्वितीय सर्गः

साहित्य भण्डार मेरठ

महाकविकालिदासप्रणीतम्

रघुवंशमहाकाव्यम्

[द्वितीयः सर्गः]

[उत्कृष्टतम समीक्षात्मक विस्तृत भूमिका, श्लोकों का अन्वय, सरलतम संस्कृत तथा हिन्दी में पृथक्-पृथक् टीका एवं व्याख्या तथा शब्दार्थ, भावार्थ, समास, छन्द, अलङ्कार और व्याख्यात्मक टिप्पणियों एवं परिशिष्टों से समन्वित]

भूमिका लेखक तथा व्याख्याकार :

आचार्य डा० सुरेन्द्रदेव शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०

संशोधक :

डा० श्रीकान्तपाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी०

दिगम्बर जैन कालेज बड़ौत

साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य प्रकाशन

सुभाष बाजार, मेरठ-250

● प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष:
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ—२
दूरभाष : ७७६५४

● नवीन संस्करण १९९५

● मूल्य : पन्द्रह रुपये [१५·००]

प्राक्कथन

साहित्यिक जगत् में महाकवि कालिदास को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। उनके द्वारा श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही प्रकार के काव्यों की रचना की गयी है। दृश्यकाव्य की दृष्टि से उनके "**अभिज्ञानशाकुन्तलम्**" को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया जाता है। उनके द्वारा रचित दृश्यकाव्यों (तीनों नाटकों) को छोड़कर शेष सभी रचनायें श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत आती हैं, जिसमें रघुवंशमहाकाव्य को संस्कृत-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो चुका है। यद्यपि इस महाकाव्य की अनेक टीकायें तथा व्याख्यायें लिखी जा चुकी हैं, विशेषरूप से द्वितीय सर्ग की, किन्तु ऐसी टीका तथा व्याख्या कि जिसके आधार पर ऐसे व्यक्ति भी कि जो संस्कृत-वाणी का विशिष्ट ज्ञान नहीं रखते हैं, सरलता के साथ अध्ययन कर कालिदास के उक्त महाकाव्य के उक्त सर्ग का पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकें, अभी तक देखने को प्राप्त नहीं हो सकी है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त मैंने इस सर्ग की 'आशुबोधिनी' नामक टीका तथा व्याख्या को लिखा है।

यह सर्ग कुछ परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में भी निर्धारित है। अतः सम्बन्धित छात्रों को भी इससे पूर्ण लाभ हो सके, इसका भी पूर्णरूपेण ध्यान रखा गया है। सरलता, भावस्पष्टता तथा महाकवि की महाकाव्य सम्बन्धी विशेषताओं को शीघ्र ही समझ लेने की दृष्टि से सर्वप्रथम श्लोक का अन्वय, तत्पश्चात् सरल संस्कृत-व्याख्या, शब्दशः हिन्दी में अर्थ, भावार्थ, समास, व्याकरण, अलङ्कार तथा मुख्य-मुख्य शब्दों पर विशिष्ट टिप्पणियों को व्याख्या में स्थान प्रदान किया गया है। भावार्थ आदि को इतना अधिक स्पष्ट किया गया है कि जिससे पाठकगण श्लोक की अन्तरात्मा तक सहज ही पहुँच सकें। मुझे विश्वास है कि इस व्याख्या के द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति अवश्य हो जायेगी।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी सार्थकता इसकी भूमिका में है। द्वितीय सर्ग से सम्बन्धित सभी प्रकार की विशेषताओं तथा तत्सम्बन्धी प्रश्नों का तो समाधान इसके अन्दर विद्यमान है ही, इसके अतिरिक्त काव्य, काव्य के प्रकार, रघुवंश का महाकाव्यत्व, महाकवि की जीवनी तथा उनका काल और उनके व्यक्तित्व आदि से समन्वित इसकी भूमिका इसका प्राण ही बन गई है।

यदि कालिदासीय साहित्य-प्रेमी सहृदयजन इस पुस्तक से तनिक भी लाभान्वित हो सके तो मैं अपना एतद् विषयक परिश्रम सार्थक तथा सफल समझूंगा।

इस पुस्तक की भूमिका तथा व्याख्या आदि के लेखन में मुझे जिन आलोचकों तथा विद्वानों की रचनाओं से सहायता लेनी पड़ी है उन सभी के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

रविवार

दिनाङ्क ११-७-७६ **—सुरेन्द्रदेव शास्त्री**

॥ ओ३म् ॥

भूमिका

समग्र संस्कृत साहित्य को प्रमुख रूप मे दो भागों में विभाजित किया जाता है—(१) वैदिक संस्कृत साहित्य, (२) लौकिक संस्कृत साहित्य। वैदिक संस्कृत साहित्य की प्राचीनतम रचना 'ऋग्वेद' है तथा लौकिक संस्कृत साहित्य की आदि रचना वाल्मीकि 'रामायण' है। दोनों ही प्रकार की उपर्युक्त प्रारम्भिक रचनाओं में उत्कृष्ट कोटि का काव्यत्व उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य सम्बन्धी रचनाओं के अनन्तर लौकिक संस्कृत साहित्य का श्रीगणेश होता है। इस लौकिक संस्कृत साहित्य में हमें सर्वप्रथम रामायण तथा महाभारत नामक काव्यों के दर्शन होते हैं। ये दोनों महाकाव्य ही लौकिक संस्कृत काव्यों के अक्षय श्रोत हैं। इनमें से रामायण के आधार पर 'रघुवंश' आदि अनेक काव्यों की रचना हुई।

शास्त्रीय दृष्टि से इन काव्यों के दो मुख्य रूप स्वीकार किये गये—(१) श्रव्य काव्य, (२) दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य में शब्दों द्वारा, चाहे वे स्वयं पढ़े जायें अथवा उनका श्रवण किसी अन्य के मुख द्वारा किया जाय, पाठकों अथवा श्रोताओं के हृदय में रस का संचार किया जाता है। दृश्य काव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति अथा चेष्टाओं के अनुकरण और भावों के अभिनय के माध्यम से दर्शकों को भावमग्न किया जाता है। इस भाँति श्रव्यकाव्य श्रवणों के माध्यम द्वारा तथा दृश्य काव्य नेत्रों के माध्यम द्वारा मानव हृदय में आनन्दानुभूति कराते हैं। माध्यम की इस भिन्नता के आधार पर ही काव्य के उपर्युक्त दो प्रसिद्ध रूप निष्पन्न होते हैं।

दृश्यकाव्य के अन्तर्गत सभी प्रकार के रूपकों (नाटकों) का समावेश हो जाता है। अभिनीत किये जाने के कारण ये जनता द्वारा दृश्य होते हैं। श्रव्यकाव्य अभिनय योग्य नहीं हुआ करते हैं, वे तो केवल पठनीय तथा श्रवणीय ही होते हैं। इनके पुनः तीन प्रकार हो जाते हैं—(१) पद्य काव्य,

(२) गद्य काव्य, (३) चम्पू काव्य। इनमें से पद्य काव्य के तीन उपभेद होते हैं—(१) महाकाव्यं, (२) खण्डकाव्य, (३) मुक्तककाव्य। इसी भाँति गद्य काव्य के भी दो मुख्य उपभेद हैं—(२) कथा, (२) आख्यायिका। चम्पू काव्य में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ "रघुवंश" पद्य-काव्य की श्रेणी में आता है तथा इसकी गणना महाकाव्य की कोटि में की जाती है। इसके रचयिता महाकवि 'कालिदास' हैं।

सार्थक शब्दों द्वारा ही काव्य के शरीर का निर्माण हुआ करता है। अतः सार्थक शब्द अथवा शब्द और अर्थ ही काव्य के आधार माने गये हैं। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। इसी कारण महाकवि कालिदास ने स्वरचित 'रघुवंश' महाकाव्य के सर्वप्रथम छन्द में शब्द तथा अर्थ की इस अविच्छेद्य एकता को उपमान बनाकर स्थिर किया है :—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥" रघुवंश १/१॥

महाकवि अपने हृदगत भावों का अभिव्यक्तीकरण इन्हीं सार्थक शब्दों के माध्यम द्वारा किया करता है। आचार्यों द्वारा भावों का समावेश भावपक्ष के अन्तर्गत तथा शब्द एवं अर्थ का समावेश कलापक्ष के अन्तर्गत किया गया है। इन दोनों ही पक्षों का काव्य में होना आवश्यक हुआ करता है। काव्य के इन्हीं दोनों पक्षों का ध्यान रखते हुये आचार्य 'विश्वनाथ' ने अपने साहित्य-दर्पण में 'काव्य' का निम्नलिखित लक्षण किया है :—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"॥ साहित्यदर्पण॥

अर्थात् रसात्मक (रस ही जिसकी आत्मा है ऐसे) वाक्य का ही नाम 'काव्य' है। सार्थक एवं योजनाबद्ध शब्द-समुदाय का ही नाम 'वाक्य' है तथा भाव की पुष्टावस्था का ही नाम रस है। अतः 'वाक्य' के अन्तर्गत कलापक्ष और रस के अन्तर्गत भावपक्ष का समावेश हो जाता है। इसी भाँति पण्डित-राज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में काव्य का लक्षण करते हुये स्पष्ट किया है—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"॥ रसगंगाधर॥

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला 'शब्द' काव्य है। यहाँ 'रमणीय' शब्द का अर्थ है 'मन को रमाने वाला'। अतः इसके अन्तर्गत

'रसानुभूति' अथवा भावपक्ष और इस रमणीयता के 'प्रतिपादक शब्द' के अन्तर्गत कलापक्ष का समावेश हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का भावपक्ष एवं कलापक्ष से समन्वित होना आवश्यक है। महाकवि का प्रस्तुत महाकाव्य उपर्युक्त दोनों पक्षों से भली-भाँति समन्वित है। सरलतम एवं स्वाभाविक शब्दों में गूढ़तम एवं अति विस्तृत भावों का अभिव्यक्तीकरण करने में महाकवि (कालिदास) को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है, इसी कारण उन्हें संस्कृत-साहित्य में तो सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है साथ ही उन्हें विश्व के श्रेष्ठतम महाकवियों की श्रेणी में भी रक्खा गया है।

"महाकवि कालिदास का काल तथा जीवनवृत्त"

काल एवं जीवन-वृत्त जानने के दो प्रमुख साधन—महाकवि कालिदास के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। सामान्यतया किसी कवि के काल अथवा जीवनवृत्त को जानने के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से दो साधन हुआ करते हैं—(१) **अन्तःसाक्ष्य** अर्थात् कवि ने अपनी रचनाओं में, अपने बारे में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से क्या लिखा है। (२) **बहिःसाक्ष्य**—अर्थात् कवि के समकालीन तथा परवर्त्ती विद्वानों ने उसके बारे में क्या लिखा है। इन दोनों साधनों में प्रथम साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

अन्तःसाक्ष्य—अन्तः साक्ष्य के आधार पर उनकी कृतियों में उनके स्थिति-काल, वंश, स्वभाव, चरित्र एवं जन्मस्थान आदि के बारे में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं होती हैं। स्वभाव से ही वे अत्यन्त विनयी तथा उदार थे। अतः उन्होंने स्वरचित नाटकों[1] में प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर केवल अपने नाम का ही उल्लेख किया है। उनके काव्यों में तो इसका भी सर्वथा अभाव ही है। उनकी इस निस्पृहता का दर्शन उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं कि उन्होंने अपने ही बारे में कुछ न लिखा हो,

---

१. सूत्रधारः—'अद्यखलुकालिदासग्रथितवस्तुनाऽभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः'।

['अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रारम्भ से उद्धृत]।

उन्होंने तो अपने आश्रयदाता राजा के बारे में भी एक प्रशस्ति पंक्ति तक नहीं लिखी है। यहाँ तक कि आश्रयदाता के नाम तक का उन्होने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। ऐसी स्थिति में अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम उनके बारे में कुछ भी जानने में पूर्णतया असमर्थ हैं।

बाह्यसाक्ष्य—हाँ बाह्य-साक्ष्य के आधार पर महाकवि कालिदास के काल, जीवन-वृत्त आदि के सम्बन्ध में कुछ सामग्री अवश्य प्राप्त होती है किन्तु उसके आधार पर भी किसी निश्चित-निर्णय पर पहुँच सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

बाह्य साक्ष्य सम्बन्धी उनके काल की दो सीमायें—उनके काल की दो सीमायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। उन्होंने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' का कथानक शुंगवंशीय राजा 'अग्निमित्र' के चरित्र से लिया है। यह 'अग्निमित्र' सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था। सेनापति-पुष्यमित्र ने मौर्य वंश का उच्छेद कर मगध-साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। इसका काल[3] ईसा से १८४ वर्ष पूर्व स्वीकार किया गया है। अतः इस आधार पर महाकवि कालिदास का काल इससे पूर्व का नहीं हो सकता है।

कालिदास के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख हमें कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधिपति महाराज हर्षवर्धन के आश्रित रहने वाले महाकवि बाणभट्टविरचित

---

१. सूत्रधारः—अहमस्यांकालिदासग्रथितवस्तुना नवेनात्रोठकेन उपस्थास्ये" इत्यादि। ['विक्रमोर्वशीय' के प्रारम्भ से उद्धृत]।

२. "अभिहितोस्मिविद्वत्परिषदाकालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन्वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।

['मालविकाग्निमित्र' के प्रारम्भ में सूत्रधार की उक्तियाँ]।

३. १८४ वर्ष ई० पू० में वृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र गद्दी पर आसीन हुआ:—

(i) A Comprehensive History of India, Volume II, Page 95, Line 10.

(ii) Ancient India : Dr. R. C. Majumdar—Page 120, Line 10.

'हर्षचरित' की प्रस्तावना में उपलब्ध होता है। महाराज हर्ष का समय इतिहासज्ञों द्वारा ६०६ ई० से ६४७ ई० तक स्वीकार किया[1] गया है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत के "एहोल" नामक ग्राम में प्राप्त शिलालेख[2] पर (६३४ ई० सन्) खुदी हुई प्रशस्ति में भी उनका नाम उपलब्ध होता है। ये दोनों ही प्रकार के उल्लेख ईसा की सप्तम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के ही हैं। अतः इसके पश्चात् महाकवि कालिदास का काल निर्धारित किया जाना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

उपर्युक्त सीमाओं से निर्धारित काल के, अन्तर्गत ही महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों एवं आलोचकों की मान्यताओं पर आधारित, अनेक मत उपलब्ध होते हैं। इन विभिन्न मतों का विभाजन निम्नलिखित चार भागों में किया जा सकता है—

(१) छटी शताब्दी ई० का मत।
(२) गुप्तकालीन मत अथवा चतुर्थ शताब्दी ई० सम्बन्धी मत।
(३) द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व का मत।
(४) प्रथम शताब्दी ई० पूर्व का मत।

(१) छठी शताब्दी ई० का मत

प्रथम कल्पना—डॉ० हार्नली का कथन है कि छठी शताब्दी में मालवा देश के राजा यशोवर्मन ने हूणों को हराकर अपनी विजय के उपलक्ष्य में 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की थी तथा विक्रम संवत् भी चलाया था। किन्तु उन्होंने उक्त संवत् को प्राचीनता का पुट देने की दृष्टि से ६०० वर्ष

(iii) रतिभानुसिंह 'नाहर' : प्राचीन काल का राजनैतिक इतिहास : सम्राट् हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६–६४७ : पृष्ठ ४६४-५०८।

१. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास : हर्ष के राज्यारोहण का काल– ६०६ ई० पृष्ठ-२२४ : मृत्युकाल ६४७ अथवा ६४८ ई०— पृष्ठ २३५, पंक्ति १५।

२. येनायोजि न वेमस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म,
स जयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥ एहोल शिलालेख (पुलकेशी द्वितीय) शक संवत् ५५६ (६३४ ई० सन्)।

पूर्व से (अर्थात् ईसवी पूर्व ५७ वर्ष से) ही इसका प्रचलन मान लिया था। उपर्युक्त मत सम्बन्धी यह **प्रथम कल्पना** है।

डॉ० हार्नली का उक्त मत पूर्णतया निराधार तथा निर्मूल है क्योंकि महाराज यशोवर्मन को 'विक्रमादित्य' की उपाधि कभी नहीं मिली थी। साथ ही कालिदास के 'विक्रमादित्य' 'हूणारि' न होकर 'शकारि' ही थे।

द्वितीय कल्पना—फर्ग्यूसन महोदय के मतानुसार उज्जयिनी के राजा हर्ष 'विक्रमादित्य' ने ५४४ ई० में शकों को कहरूर की लड़ाई में परास्त कर इस विजय के उपलक्ष्य में विक्रम संवत् चलाया था। इस संवत् को प्राचीन तथा चिरस्मरणीय बनाने के लिये उसने उसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाकर उसका आरम्भ ५७ वर्ष ईसवी पूर्व से माना था। इसकी उक्त कल्पना को आधार मानकर प्रो० मेक्समूलर ने भी यही माना कि ये विक्रमादित्य ही कालिदास के 'विक्रमादित्य' थे। अतः कालिदास का समय छठी शताब्दी ई० मानना उचित ही है। इस मत की पुष्टि में यह भी दिखलाया जाता है कि कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, हूण, पल्लव आदि जातियों का उल्लेख आता है। हूणों द्वारा ५०० ई० में भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किया गया था। अतः उसका उल्लेख करने वाले कालिदास का काल इसके पश्चात् का ही होना चाहिये।

किन्तु निम्नलिखित आपत्तियों के कारण उपर्युक्त मत पूर्णरूपेण अमान्य हो जाता है—

(i) हर्ष 'विक्रमादित्य' द्वारा चलाया गया विक्रम संवत् का प्रारम्भ ५०० ई० पूर्व ही क्यों स्वीकार किया गया? कुछ अधिक अथवा कुछ कम वर्ष पूर्व क्यों नहीं? इसका समाधान फर्ग्यूसन महोदय द्वारा नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० पहले मालव संवत् ५२९ तथा विक्रम संवत् ४३० के भी प्रयोग मिलते हैं। अतः उपर्युक्त मत पूर्णतया धराशायी हो जाता है।

(ii) 'रघुवंश' में हूणों अथवा अन्य जातियों का उल्लेख विदेशी विजेताओं के रूप में नहीं आता है। महाराज रघु ने भी अपनी दिग्विजय यात्रा में उनको भारत की सीमा के बाहर ही पराजित किया था। चीन तथा एशिया के इतिहास से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ई० पू० प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे।

(iii) ४७३ ई० की मन्दसौर वाली वत्सभट्टि रचित प्रशस्ति में ऋतुसंहार तथा मेघदूत के अनेक पद्यों की झलक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है। अतः महाकवि कालिदास को छठी शती का मानना पूर्णतया असंगत है।

वास्तविकता तो यह है कि छठी शताब्दी से बहुत पूर्व ही विक्रम संवत् भारत में 'मालव-संवत्' के नाम से प्रचलित था। उसकी स्थापना ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य नामधारी मालवगण-मुख्य के द्वारा की गई थी। उपर्युक्त शिलालेख से इसकी भी पुष्टि हो जाती है।

तृतीय कल्पना—कुछ आलोचक विद्वानों का कथन है कि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में "जामित्र" आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे ग्रीक-ज्योतिष से भली-भाँति परिचित थे। भारतवर्ष में ग्रीक-ज्योतिष का प्रचार आर्यभट्ट द्वारा किया गया था। आर्यभट्ट का समय ईसा की पंचम शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। अतः इस आधार पर कालिदास का काल ईसा की छठी शताब्दी स्वीकार किया जाना युक्तिसंगत है। इसके विरुद्ध डॉ० मैकडानल का कथन है कि आर्यभट्ट द्वारा ग्रीक-ज्योतिष का प्रचार किये जाने से पूर्व भी भारतीय लोग ग्रीक-ज्योतिष के सिद्धान्तों से परिचित थे। इसका प्रमाण हमें "रोमक-सिद्धान्त" नामक ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिसकी रचना आर्यभट्ट के समय से पूर्व ही की जा चुकी थी। अतः यह कल्पना भी असंगत ही कही जा सकती है।

चतुर्थ कल्पना—प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत नामक काव्य के चौदहवें श्लोक के दो प्रकार के अर्थ किये हैं। उनके अनुसार इस पद्य में प्रयुक्त[1] 'दिङ्नाग' और 'निचुल' शब्द क्रमशः बौद्ध दार्शनिक तथा कालिदास के संतीर्थ्य महाकवि 'निचुल' की ओर संकेत करते हैं। कालिदास के समकालीन दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। वसुबन्धु का समय छठा शताब्दी ई० माना

---

१. स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खम्।
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्॥ मेघदूत–१/१४॥

गया है। अतः कालिदास का काल भी छठी शताब्दी ई० ही माना जाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

यह कल्पना भी पूर्णतया सदोष ही है, क्योंकि वसुबन्धु रचित द्वारा ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा पञ्चम शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में किया जा चुका था। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि वसुबन्धु ईसा की चतुर्थ शताब्दी में अवश्य विद्यमान रहे होंगे। इस स्थिति में चतुर्थ कल्पना भी पूर्णरूपेण निर्मूल ही सिद्ध हो जाती है।

अतः महाकवि कालिदास के काल सम्बन्धित छठी 'शताब्दी ई० का मत' पूर्णतया अमान्य ही हो जाता है।

(२) **गुप्तकालीन मत अथवा चतुर्थ शताब्दी सम्बन्धी मत**–योरोपीय विद्वानों एवं आलोचकों ने गुप्तकालीन नरेशों के समुन्नत साम्राज्य-काल में कालिदास का होना माना है। इस मत के समर्थक हैं डा० कीथ। उनका कहना है कि शकों को भारतवर्ष से निकालकर बाहर कर देने वाले, 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी तथा अपने से पूर्वकाल से ही प्रचलित मालव-संवत् को विक्रम-संवत् के नाम से प्रचारित करने वाले गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय थे। इतिहास-लेखकों ने इनका काल ३७५–४१३ ई० माना है। गुप्त साम्राज्य के इसी स्वर्णकाल में महाकवि कालिदास ने अपनी कीर्ति-कौमुदी का प्रसार किया होगा।

उक्त मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि महाकवि कालिदास के "कुमारसंभव" नामक महाकाव्य की रचना चन्द्रगुप्त के पुत्र 'कुमागुप्त' के जन्म को लक्ष्य में रखकर की गई जान पड़ती है। महाकवि ने 'गुप्' धातु का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर[1] किया है। चतुर्थ शताब्दी ईसवी की हरिषेणकृत प्रयोग वाली प्रशस्ति में किये गये समुद्रगुप्त के विजय-वर्णन (३३५–३७५ ई०) में तथा रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय-वर्णन में घटनाओं का पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। कालिदास की रचनाओं में वर्णित सुख एवं शान्ति का समृद्ध-काल गुप्त-काल का सूचक प्रतीत होता है।

कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक की रचना वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोत्सव पर लिखा अथवा खेला गया होगा।

---

१. रघुवंश—१/५५, २/२४, ४/२०, ४/२६, इत्यादि स्थल दर्शनीय हैं।

इसी नाटक में वर्णित अश्वमेधयज्ञ के वर्णन से भी समुद्रगुप्त द्वारा किये गये 'अश्वमेधयज्ञ' की ओर ही संकेत जान पड़ता है।

रघुवंश महाकाव्य में इन्दुमती के स्वयंवर वर्णन में। "ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः", "इन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै" आदि उक्तियों में 'चन्द्रमा' एवं 'इन्दु' शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही द्योतक प्रतीत होते हैं।

'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटक का नामकरण 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही सूचक है।

यद्यपि 'विक्रमादित्य' उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उसके पौत्र स्कन्दगुप्त दोनों ने ही धारण की थी, किन्तु 'शकारि' तो चन्द्रगुप्त द्वितीय ही थे—स्कन्दगुप्त नहीं। अतः महाकवि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में ही विद्यमान रहे होंगे।

इस मत के विरुद्ध प्रधानरूप से निम्नलिखित आपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं :—

(१) यह बात बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होती कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी राजा ने स्वयं अपना संवत् न चलाकर अपने से पूर्व से प्रचलित किसी अन्य द्वारा चलाये गये 'मालव-संवत्' को ही अपने नाम से चालू किया हो। साथ ही यह भी विचारणीय बात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा स्वयं चलाये गये संवत् को छोड़कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'मालव-संवत्' को पृथक् रूप से अपने संवत् के रूप में चलाने की धृष्टता की होगी। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा संचालित तथाकथित विक्रम संवत् उनके पश्चात् की शताब्दियों में कहीं भी उल्लिखित नहीं है। स्वयं चन्द्रगुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम संवत् का उल्लेख न होकर गुप्त-संवत् का ही उल्लेख उपलब्ध होता है ["गुप्तकाले गणनां विधाय"] इत्यादि। विक्रम संवत् का उल्लेख नवीं शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता है। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन संवत् चलाये जाने की अथवा किसी पूर्व कालीन संवत् को अपना नाम देने की घटना ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इस कारण कालिदास के स्थितिकाल सम्बन्धी गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है।

(२) 'कुमारसंभव' महाकाव्य के नाम में किये गये 'कुमार' शब्द के प्रयोग वाली युक्ति तो एक प्रकार से हास्यास्पद ही प्रतीत होती है। महाकवि ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग 'सुत' 'पुत्र' 'आत्मज' के समान साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशिष्ट प्रयोजन से नहीं। पुत्रार्थक शब्दों में केवल 'कुमार' शब्द का ही प्रयोग किया हो, ऐसी बात नहीं है।

'मालविकाग्निमित्र' में जिस अश्वमेध-यज्ञ तथा यवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है, उसका वस्तुतः सम्बन्ध शुङ्ग वंश के प्रवर्त्तक से है।

'रघुवंश महाकाव्य' में किया गया रघु का दिग्विजय-वर्णन ऐतिहासिक होने पर भी एक कवित्वपूर्ण वर्णन है। यह तो प्रायः पुराणो में उपलब्ध वर्णनों के ही समान है। उसकी ऐतिहासिकता के बारे में अभी और अधिक छान-बीन की आवश्यकता है। कालिदास की कृतियों में जिन उक्तियों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की झलक दीख पड़ती है तथा समुद्रगुप्त के काल की झाँकी दिखलाई देती है, उनमें भी मतैक्य नहीं है। व्याख्या के विशिष्ट प्रकारों के आधार पर उनके नाना प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं।

किसी भी गुप्त सम्राट का नाम 'विक्रमादित्य' नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि तो 'विक्रमादित्य' हो सकती है, किन्तु नाम नहीं। किसी उपाधि के प्रचलन-हेतु यह अत्यावश्यक है कि उस नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका है कि जिसके अनुकरण पर बाद के महत्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि को धारण करें। रोम में भी सीजर-उपाधिधारी राजाओं से पूर्व 'सीजर' नाम का एक सम्राट हो चुका था। इसी भाँति 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त से पहले "विक्रमादित्य" नामक कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय को स्वयं "विक्रमादित्य" नहीं कहा जा सकता है। इस स्थिति में महाकवि कालिदास को गुप्तकालीन कहा जाना पूर्णतया अनुचित है!

द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व का मत—डा० कुन्हन राजा इत्यादि कुछ विद्वानों ने महाकवि कालिदास की स्थिति ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी में मानी है। इस मत की पुष्टि में यह कहा जाता है कि "मालविकाग्निमित्र" नामक नाटक के नाम तथा उसमें प्रयुक्त 'भरतवाक्य' में "अग्निमित्र" पद से स्पष्ट

विदित होता है कि वे शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र के समकालीन थे। 'अग्नि-मित्र' का काल इतिहासज्ञों ने ईसा से लगभग १८४ वर्ष पूर्व माना है। राजा 'अग्निमित्र' की राजधनी "विदिशा" मानी गई है। जिसका भव्य-वर्णन कालिदास का काल ईसा पूर्व १५० मानना उचित है।

उपर्युक्त मत की पुष्टि में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कि जिसके आधार पर यह स्वीकार किया जा सके कि राजा अग्निमित्र की राजधानी "विदिशा" थी। इसके विपरीत इतिहास यह अवश्य बतलाता है कि राजा अग्निमित्र ने मगध का राज्य किया था कि जिसकी राजधानी 'विदिशा' नहीं थी। फिर भी यदि कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन माना जाय तो उन सभी जनश्रुतियों को त्याग देना होगा कि जिनके आधार पर उनको 'विक्रमादित्य' का समकालीन कहा जाता है क्योंकि 'अग्निमित्र' को तो किसी ने 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी भी नहीं माना है, फिर नाम का तो कहना ही क्या।

'मालविकाग्निमित्र' के भरतवाक्य में कालिदास ने किसी पूर्वकालीन नाटक की पद्धति पर अग्निमित्र का नामोल्लेख किया होगा। इनके अन्य दो नाटकों के भरतवाक्य में इस प्रकार की पद्धति का दर्शन नहीं होता है।

वास्तविकता यही हो सकती है कि कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती राजा अग्निमित्र के जीवन को चित्रित करना ही अपने नाटक का आधार माना हो। अतः उक्त मत को भी अप्रामाणिक ही कहा जा सकता है।

प्रथम शताब्दी ई० पूर्व का मत—भारतवर्ष में यह बात परम्परागत रूप में चली आ रही है कि महाकवि कालिदास महाराज विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक थे। इस बात की पुष्टि 'ज्योतिर्विदाभरण" नामक ग्रन्थ के निम्नलिखित श्लोक से हो जाती है :—

"धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवैतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥"

(ज्योतिर्विदाभरण २२/१० ॥)

यद्यपि इस श्लोक में विभिन्न कालों के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के नामों के आने के कारण इसकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की जा सकती है किन्तु फिर भी यहाँ इसको उद्धृत किये जाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि परम्परा की

दृष्टि से प्रचलित विक्रमादित्य और कालिदास का साहचर्य इसमें अवश्य उल्लिखित मिलता है।

इसके अतिरिक्त महाकवि कालिदास द्वारा विरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' तथा 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटकों के कुछ वाक्यों से महाकवि कालिदास तथा विक्रमादित्य का सम्बन्ध और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में नान्दी के पश्चात् सूत्रधार एवं नटी के परस्पर वार्त्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त नाटक का अभिनय 'विक्रमादित्य' की सभा में ही हुआ था[1]। इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम में ही 'विक्रम' शब्द का प्रयोग विद्यमान है। साथ ही इसी नाटक के प्रथम अङ्क में चित्ररथ के कथनों में दो स्थानों पर "विक्रम" शब्द का उल्लेख मिलता है[2]।

यद्यपि कुछ आलोचकों ने उपर्युक्त विक्रम शब्द का अर्थ 'पराक्रम' भी किया है किन्तु यह अर्थ एकदम असम्बद्ध सा प्रतीत होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह 'विक्रम' शब्द कालिदास के आश्रयदाता "विक्रमादित्य" का ही प्रतीक है। विक्रमादित्य संस्कृत-भाषा के संरक्षक तथा उद्धारक थे। वे संस्कृत-कवियों के भी आश्रयदाता थे। अतः वे कालिदास के भी आश्रयदाता रहे होंगे। 'रघुवंश' के छठे सर्ग में कालिदास ने अवन्तिराज 'विक्रमादित्य' का उल्लेख अत्यन्त आस्था भरे शब्दों में किया है। साथ ही उनके प्रति अपने श्रद्धा भाव का प्रदर्शन भी किया है। इस उद्धरण में 'महाकाल' का भी वर्णन आ गया है :—

---

१. सूत्रधारः—"आर्ये ! इयं हि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूप-भूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेनाभिज्ञानशाकुन्तल नामधेयेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिदपात्रमाधीयतां यत्नः।"

(अभि० शा० पृष्ठ ६—सूत्रधार की उक्ति)

२. चित्ररथः—[राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्] "दिष्ट्या महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।"

(विक्रमोर्वशीय पृष्ठ-२६-चित्ररथ की उक्ति)

चित्ररथः—"युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।"

(विक्रमो० पृष्ठ-२९ पंक्ति-१)

"अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजाःस्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ।।रघु० ६/३२।।
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमोलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ।। रघु०६/३४।।

अब उपर्युक्त आधारों पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वे किसी नामधारी 'विक्रमादित्य' राजा के ही दरबारी कवि थे। अतः जो शासनकाल उस 'विक्रमादित्य' नामधारी राजा का रहा होगा, वही काल महाकवि कालिदास का निर्धारित किया जा सकता है। अतः पहले महाराज 'विक्रमादित्य' के ही शासनकाल का निर्धारण करना उपयुक्त होगा।

महाराज विक्रमादित्य के आदर्श, न्याय तथा लोकाराधन के कथानक प्रायः सम्पूर्ण भारत में प्रचलित हैं। सभी लोग उनकी कीर्ति तथा नाम से अवगत हैं। उनके बारे में यह भी जनश्रुति है कि वे उज्जयिनी नाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त कर अपनी विजय के उपलक्ष्य में विक्रम-संवत् का प्रारम्भ किया था। वे काव्य मर्मज्ञ तो थे ही साथ ही कालिदास इत्यादि कवियों के आश्रयदाता भी थे भारतीय ज्योतिष गणना के आधार पर भी इसकी पुष्टि हो जाती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम संवत् का प्रचलन किया था।

"विक्रमादित्य" का प्रथम उल्लेख हमें "गाथासप्तशती" के निम्नलिखित श्लोक में उपलब्ध होता है :—

"संवाहण-सुहरस-तोसिएण दन्तेणतुहकरे लक्खम् ।
चलणेन विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअंतिस्सा ।।" गाथा० ६/६४ ।।

इसकी टीका करते हुये श्री गदाधर ने लिखा है :—"पक्षे संवाहणं संवाधनम् । लक्खबं लक्षम् । विक्रमादित्योऽपि भृत्यकर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः" ।

इस टीका से यह स्पष्ट हो जाता है कि "गाथासप्तशती" के रचनाकाल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे जिन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों की भेंट प्रदान की थी। 'गाथासप्तसती' के रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम

शताब्दी ई० में हुये थे[1]। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री[2] तथा म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] ने भी "गाथासप्तशती" के रचयिता सातवाहन राजा हाल का समय उपर्युक्त ही माना है। ऐसी स्थिति में 'विक्रमादित्य' का हाल इससे पूर्व मानना ही होगा। अतः 'विक्रमादित्य' का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी ही सिद्ध होता है।

जैनपण्डित मेरुतुङ्गाचार्य ने भी स्वरचित "पटावली"[4] में लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्षों तक राज्य किया। उसके अत्याचार से पीड़ित होकर कालकाचार्य ने शकों की सहायता से उसको समाप्त किया और शकों ने १४ वर्ष पर्यन्त उज्जयिनी में शासन भी किया। तदनन्तर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापिस प्राप्त कर लिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के पश्चात् ४७० वें वर्ष में घटित हुयी। महावीर का निर्वाण समय ईसा पूर्व ५२७ वर्ष माना गया है। अतः ५२७—४७० = ५७ वर्ष ठीक है। इस प्रकार यह काल भी ईसा पूर्व ५७ वर्ष ही निकलता है।

श्री सोमदेव रचित 'कथासरित्सागर' में भी उज्जयिनी नरेश 'विक्रमादित्य' का वर्णन उपलब्ध होता है। इसे प्रामाणिक माना जा सकता है क्योंकि 'कथासरित्सागर' गुणाढ्यकृत "बृहत्कथा" का ही संक्षिप्त रूप[5] है। बृहत्कथा इस समय अप्राप्य है। अतः कथासरित्सागर को भी बृहत्कथा के सदृश ही प्रामाणिक माना जा सकता है। इस ग्रन्थ के अनुसार विक्रमादित्य परमारवंशी उज्जयिनी-

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास [वी० वरदाचार्य द्वारा लिखित 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' का श्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा किया गया अनुवाद] प्रकाशक—रामनारायण, इलाहाबाद—पृष्ठ १४६–१४७।
२. ऐपीग्राफिया इण्डिया, जिल्द १२–पृष्ठ–३२०।
३. प्राचीन लिपिमाला–पृष्ठ १६८।
४. श्री पटावली-समुच्च प्रथम भाग [मुनि दर्शन-विजय द्वारा सम्पादित] पृष्ठ–१७, ४६, १५०, १६६, १६६, २००।
५. "बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्"॥ कथासरित्सागर-१ल०-१त०-३। वरदाचार्य–संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ १६६, पंक्ति १८–१९।

नरेश 'महेन्द्रादित्य' के पुत्र[1] थे जिन्होंने म्लेच्छों का विनाश, नास्तिकसम्प्रदायों का उच्छेद तथा वैदिक-धर्म का पुनरुत्थान किया था। वे परमशैव थे। उन्होंने ही उज्जयिनी स्थित महाकाल-मन्दिर का निर्माण कराया था। इन्हीं विक्रमादित्य ने शकों को उनके द्वारा किये गये प्रथम आक्रमण में ही परास्त किया था तथा इस क्रान्तिकारी विजय के उपलक्ष्य में प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में "मालवगण" नामक "संवत् का प्रचलन आरम्भ किया था, बाद में यही संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य-इतिहास एवं संस्कृत-विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० राजबलि पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी' तथा पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'कालिदास-ग्रन्थावली' के तृतीय खण्ड में प्रकाशित अपने 'विक्रमादित्य' शीर्षक लेख में अकाट्य प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महाराज विक्रमादित्य 'मालवगणमुख्य' थे तथा उन्होंने ही शकों को परास्त कर 'मालवगणस्थिति' नामक सवत् को प्रचलित किया था, जो बाद में विक्रम संवत् के नाम से व्यवहृत होकर आज तक चला आ रहा है।

इसका कुछ विस्तृत-विवेचन मेरे द्वारा लिखित 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामक ग्रन्थ की भूमिका में किया गया है। जिज्ञासु पाठक एतत्सम्बन्धी वर्णन तथा नाना प्रकार की आपत्तियों के निराकरण को वहाँ देख सकते हैं।

विक्रमादित्य तथा महाकवि कालिदास के घनिष्ठ सम्बन्ध का विवेचन इसी प्रकरण में किया जा चुका है। अतः कालिदास का काल ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी स्वीकार किया जाना उपयुक्त है।

"कालिदास का जीवनवृत्त"

जन्मस्थान—महाकवि कालिदास के जन्मस्थान के बारे में कोई ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर उनके जन्मस्थान के बारे में कुछ विचार किया जा सके। उन्होंने अपनी किसी भी रचना में अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ भी नहीं लिखा है। अतएव उनके जन्मस्थान के बारे में जो कुछ भी कहा अथवा माना जाता है वह प्रायः आनुमानिक है। न तो इनके जन्म-स्थान का ही सही रूप में पता लगता है और न इनकी जन्मतिथि का ही

१. कथासरित्सागर—लम्बक १८ में।

इतना तो स्पष्ट है कि उनके जीवन का उत्तर-काल उज्जयिनी में ही बीता। इस सम्बन्ध में प्राय: सभी विद्वान् एकमत हैं किन्तु इनके जीवन के आदिकाल के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनायें की जाती हैं। कुछ विद्वानों ने 'कालिदास' का अर्थ 'कालि का दास' मानकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ये बंगाली थे तथा उनका जन्मस्थान बंगाल था क्योंकि 'काली' का पूजन सम्पूर्ण बंगाल में होता है। कुछ विद्वानों ने उन्हें कश्मीर निवासी बतलाया है और कुछ ने उन्हें मालव अथवा उज्जयिनी निवासी, क्योंकि इन दोनों ही स्थानों के प्रति कवि के हृदय में स्थान तथा ममत्व है। साथ ही उनकी रचनाओं में दोनों स्थानों का विस्तृत वर्णन भी उपलब्ध होता है।

प्रथम कल्पना की पोषक कालिदास संशोधन समिति का कहना है कि बंगाल में 'कालिदास सागर' नामक एक बड़ा सरोवर है, जहाँ पर आषाढ़ मास की प्रतिपदा के दिन प्रतिवर्ष उत्सव भी हुआ करता है। वहाँ पर यह जनश्रुति भी है कि कालिदास की तीन पत्नियों में से एक का नाम विद्युन्माला था जिसका नामत: उल्लेख उन्होंने अपने 'श्रुतबोध' नामक ग्रन्थ में किया है। अत: वे बंगाली ही थे।

नाम से भी उनका बंगाली होना प्रकट होता है। बंगाल निवासी प्राय: काली के भक्त हुआ करते हैं, उनके नाम भी कालीदत्त, कालिप्रसाद इत्यादि होते हैं। इसी प्रकार काली का भक्त होने के कारण ही उनका नाम भी कालिदास रहा होगा।

कालिदास ने अपनी रचना 'मेघदूत' में 'अषाढस्य प्रथमदिवसे' में 'दिवस' शब्द द्वारा दिन का ही उल्लेख किया है! सौरमास सम्बन्धी गणना में दिनों की प्रधानता हुआ करती है। इस प्रकार की सौरमासीय गणना बंगाल में ही की जाती है। अत: कालिदास का बंगाली होना स्पष्ट ही है।

किन्तु प्रथम-कल्पना सम्बन्धी उपर्युक्त सभी उक्तियाँ पूर्णरूपेण निराधार ही प्रतीत होती हैं क्योंकि कालिदास रचित 'श्रुतबोध' की प्रामाणिकता के बारे में आज तक कोई भी प्रमाण आदि उपलब्ध नहीं हो सका। अत: 'श्रुतबोध' नामक कृति उनकी न होने के कारण तत्सम्बन्धी युक्ति पूर्णतया निर्मूल हो जाती है।

यह कालिदास वस्तुत: काली के दास (भक्त अथवा उपासक) रहे होते

तथा काली की ही कृपा से उन्हें ज्ञान-प्राप्ति हुई होती, तो वे अपनी किसी रचना में तो 'काली' की स्तुति अवश्य करते। किन्तु उनकी किसी भी रचना में काली की स्तुति दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी रचित प्रामाणिक सातों रचनाओं में से केवल 'कुमारसम्भव' के एक श्लोक (७/३९) में, जब भगवान् शंकर अपने विवाह के उपलक्ष्य में हिमवान् के घर जा रहे थे, उस समय भगवती 'काली' उनके अनुसार परिवार में विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि बंगाली ही काली के उपासक होते हों।

अन्य प्रान्तों के लोग भी काली के उपासक हुआ करते हैं। उज्जयिनी में तो 'काली' का प्राचीन मन्दिर अब भी विद्यमान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास न तो 'काली' के भक्त ही थे और न काली की भक्ति के कारण उनका नाम ही कालिदास रक्खा गया था। वस्तुतः यह नाम तो उनके माँ बाप द्वारा ही रक्खा गया होगा। उनके द्वारा अपनी रचनाओं में की गई स्तुति से यही प्रकट होता है कि वे शैव थे--शिव के उपासक थे।

'आषाढस्य प्रथम दिवसे' का तात्पर्य 'आषाढ़ मास का प्रारम्भ' ही है। इसके आधार पर सौरमास सम्बन्धी कल्पना का किया जाना पूर्णतया अनुचित है।

कश्मीर—विषयक द्वितीय कल्पना के सम्बन्ध में महामहोपाध्याय श्री लक्ष्मीधर कल्ला ने स्वलिखित "दी बर्थ प्लेस ऑफ कालिदास" नामक पुस्तक में विस्तृत रूप से विचार करते हुए लिखा है कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में 'हिमालय' का वर्णन विस्तार के साथ किया है। अतः हिमालय के प्रति उनकी आत्मीयता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग में ही हिमालय का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। 'मेघदूत' के यक्ष की निवासस्थली 'अलका' हिमालय पर ही थी। 'विक्रमोर्वशीय' मे राजा पुरुरवा तथा उर्वशी नामक अप्सरा का प्रथम मिलन कश्मीर के समीप स्थित 'गन्धमादन' पर्वत पर हुआ था। उर्वशी के वियोग के अनन्तर राजा उसी पर्वत पर विचरण भी करता रहता था। 'रघुवंश' के प्रारम्भ में ही राजा दिलीप का 'वसिष्ठाश्रम' जाने का वर्णन आता है। यह आश्रम भी हिमालय पर ही था। इसी ग्रन्थ के द्वितीय सर्ग में गाय चरती-चरती हिमालय की एक

गुफा में प्रविष्ट हो गई थी। उस गुफा में एक सिंह गाय पर झपटता है। महाकवि ने इस सिंह को "भूतेश्वरपार्श्ववर्ती" बतलाया है। 'भूतेश्वर' नामक तीर्थ कश्मीर स्थित 'गंगाप्रताप' के पास ही विद्यमान है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सप्तम अङ्क में वर्णित मारीच ऋषि का आश्रम इसी हिमालय पर स्थित था।

श्री कल्ला ने यह भी सिद्ध किया है कि सिन्धु तथा मालिनी नामक नदियाँ, शचीतीर्थ, सोमतीर्थ तथा ब्रह्मसर आदि तीर्थ स्थान और शक्रघाट आदि स्थल भी कश्मीर में ही विद्यमान हैं। कथानक की सुविधा की दृष्टि से कवि ने उनका (शचीतीर्थ तथा शक्रघाट) वर्णन हस्तिनापुर के निकट ही दिखला दिया है। पूर्व परिचित होने के कारण कालिदास को इन स्थलों की स्मृति हो आई होगी। विभिन्न प्रकार के पुष्पों, नृत्य, गीतों आदि का वर्णन जो मेघदूत में उपलब्ध होता है, वह भी कश्मीर पर ही घटता है, क्योंकि इसी प्रकार का कश्मीर सम्बन्धी वर्णन कल्हणकृत "राजतरङ्गिणी" नामक ग्रन्थ में तथा बिल्हण 'विक्रमाङ्कदेवचरित' काव्य में भी मिलता है।

इन उपर्युक्त वर्णनों द्वारा कालिदास के कश्मीरी होने की बात स्पष्ट हो जाती है।

गम्भीरतापूर्वक विचार तथा परीक्षण किये जाने पर उक्त कल्पना भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। प्रथम तो यह कि 'कालिदास' नाम ही कश्मीरी नाम नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि भामह, रुद्रट, मम्मट, कल्हण आदि पण्डितों तथा आचार्यों के नाम तो किसी भी कश्मीरी विद्वान् की रचना में देखने को नहीं मिलता है। यदि महाकवि कालिदास कश्मीर निवासी रहे होते तो कल्हण जैसा सुयोग्य एवं जिज्ञासु इतिहासकार उनका वर्णन अपनी रचना 'राजतरङ्गिणी' में अवश्य करता।

कालिदास का भौगोलिक-ज्ञान अत्यन्त वास्तविक है। उन्होने अपने ग्रन्थों में जिन अनेक स्थलों के वर्णन किये हैं, उनमें किसी प्रकार की त्रुटि दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः उन्होंने अप्सरस्तीर्थ, सचीतीर्थ आदि स्थलों का वर्णन कश्मीर प्रान्त से प्राप्त कर हस्तिनापुर के समीप में दिखला दिया हो, यह बात पूर्णरूपेण असंगत सी प्रतीत होती है।

यह सत्य है कि कोई कवि किसी घटना का अनुभव स्वयं किये बिना उसका चित्रण अपनी लेखनी द्वारा उत्तम रूप में चित्रित नहीं कर सकता; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम यह स्वीकार कर लें कि कालिदास का घर अलकापुरी में था, उनके घर की बावड़ी में स्फटिक-मणि से बनाई गई सीढ़ियाँ थीं, आदि-आदि। यह सब तो कवि की अपनी कल्पना पर ही आधारित हुआ करता है। मेघदूत के उत्तरखण्ड में महाकवि ने अपनी कल्पना को स्वच्छन्द बनाकर अलकापुरी के सौन्दर्य, ऐश्वर्य तथा सुखोपभोग का उत्कृष्ट कोटि का वर्णन किया है। इसके अन्तर्गत वास्तविकता का दर्शन करना अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है।

अतः कालिदास के कश्मीरी होने की बात अथवा कल्पना भी अप्रामाणिक ही सिद्ध हो जाती है।

यद्यपि कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक प्रान्तों का वर्णन किया है किन्तु केवल प्रान्त का वर्णन कर देने मात्र से ही कवि को उस प्रान्त का निवासी स्वीकार कर लेना उचित प्रतीत नहीं होता है। हाँ, यह अवश्य सम्भव है कि कवि को किसी प्रदेश-विशेष अथवा किसी स्थान विशेष का वर्णन सर्वाधिक प्रिय तथा रुचिकर रहा हो और उस प्रदेश के प्रति कवि का विशेष पक्षपात भी रहा हो। साथ ही उस स्थल अथवा प्रदेश के साथ उसके जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध भी रहा हो, तो उस स्थान-विशेष को कवि के जन्म-स्थान के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उनके ग्रन्थों का सम्यक् अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनको 'मालवा' अधिक प्रिय था। 'मेघदूत' में तो 'मेघ' के उत्तर दिशा की ओर जाने वाले मार्ग के सीधा होने पर भी, उस सीधे मार्ग को त्यागकर, टेढ़े मार्ग पर चलकर उज्जयिनी होकर जाने तथा वहाँ के महाकाल के मन्दिर, शिप्रा नदी, उसकी नर्तकियों और नगरवासियों के हाव-भाव, अंगविलास आदि का निरीक्षण करते हुये जाने के बारे में यक्ष द्वारा मेघ को जो निर्देश दिया जाने का वर्णन उपलब्ध होता है वह तो कवि के उज्जयिनी विषयक पक्षपात की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करता है। यह निश्चित है कि महाकवि की ऐसी पक्षपातपूर्ण भावना केवल स्थान के सौन्दर्य के कारण ही नहीं बन गई होगी अपितु उज्जयिनी से उनका अवश्य ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा। महाकवि के 'काल' सम्बन्धी वर्णन में यह स्पष्ट किया जा

चुका है कि वे उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के ही दरबारी कवि थे। अत कालिदास का उज्जयिनी (मालवा) में अधिक समय तक निवास इस बात क द्योतक है कि उन्हें उज्जयिनी से अपनत्व था। इस पक्षपातपूर्ण वर्णन से यह भ स्पष्ट हो जाता है कि इस जगतीतल पर स्थित किसी अन्य स्थान के प्रति कवि का उतना अधिक स्नेह दृष्टिगोचर नहीं होता है जितना कि उज्जयिनी के प्रति। इस आधार पर यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि उनके जीवन क प्रारम्भिक काल उज्जयिनी में ही व्यतीत हुआ होगा।

जीवन-चरित—"प्रत्येक ग्रन्थकर्त्ता के विचार, विद्वत्ता तथा स्वभाव उसकी रचनाओं में किसी न किसी अंश में अवश्य प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं।" इस सिद्धान्त के अनुसार उसके ग्रन्थों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका जन्म 'ब्राह्मण' कुल में हुआ होगा। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऋषियों के चरित्रों का वर्णन अति श्रद्धा एवं प्रेम के साथ किया है।[1] उनके आश्रमों के वर्णन से भी उनकी असीम श्रद्धा एवं विश्वास का पता हमें लग जाता है। उनके 'यज्ञ' सम्बन्धी प्रेम[2] का भी ज्ञान उनकी कृतियों से ही हो जाता है। उन्होंने "विक्रमोर्वशीय" नाटक के इतिवृत्त को "ऋग्वेद" (१०–९५) "शतपथ-ब्राह्मण" (५, १–२) से लिया है। इन उद्धरणों

---

१. (अ) 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में 'कण्व' तथा 'मारीच' आदि ऋषियों का वर्णन
   (ब) 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में 'वसिष्ठ' ऋषि का वर्णन तथा पञ्चम सर्ग में 'वरतन्तु' ऋषि का वर्णन।
   (स) 'विक्रमोर्वशीय' में 'च्यवन' ऋषि का वर्णन।

२. (अ) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ७/२४ के द्वारा यज्ञ का समर्थन।
   (ब) 'अभिज्ञानशाकुन्तल' 'दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता:' पृष्ठ २०५ पर।
   (स) 'मालविकाग्निमित्र' में पृष्ठ २२८ पर—पुष्यमित्र द्वारा प्रेषित पत्र से 'अश्वमेध यज्ञ' की सूचना तथा अग्निमित्र के सपरिवार यज्ञ में सम्मिलित होने का वर्णन।
   (द) 'रघुवंश'—१५/५-६२ में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन।

महाकवि कालिदास का वेदों के प्रति प्रेम तथा उनके वैदिक ज्ञान का पता लग जाता है। उपनिषदीय ब्रह्मतत्व का उल्लेख कुमारसंभव (३--१५) में आया है इत्यादि उद्धरणों के आधार पर तथा मनुस्मृति में वर्णित ब्राह्मणवर्ण के कर्मों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका जन्म ब्राह्मणकुल में ही हुआ होगा। उन्होंने अपने तीनों नाटकों के प्रारम्भ में शिव की स्तुति की है। इससे उनका शिवोपासक होना सिद्ध हो जाता है मेघदूत तथा रघुवंश में वर्णित यात्रा सम्बन्धी वर्णनों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि उन्होने भारत की विस्तृत यात्रा अवश्य की होगी। इसी कारण उनके इस वर्णनों में सत्यता एवं स्वाभाविकता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके द्वारा वर्णित राजद्वारों एवं राजकीय जीवनों का अध्ययन करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजे परिवारों से इनका सम्बन्ध अवश्य रहा होगा।

कालिदास की विद्वत्ता तथा पाण्डित्य—महान् विद्वान् होने के साथ ही साथ महाकवि कालिदास अत्यन्त नम्र तथा विनीत थे। अपनी इसी विनयसम्पन्नता के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया है। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों में कहीं भी कृत्रिमता का दर्शन नहीं होता है। इतना होने पर भी उनके ग्रन्थ अनेक विषयों के ज्ञान से ओत-प्रोत हैं, जिनके अनेक उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं तथा जिनसे उनके ज्ञान गाम्भीर्य का पता पाठक को स्वयं ही लग जाता है, वे सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय के ज्ञाता थे। निम्नलिखित श्लोकों में उनके अनेक ऋग्वेद-सम्बन्धी ज्ञान तथा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों सम्बन्धी ज्ञान का उल्लेख मिलता है:—

"उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥" कुमार०—२/१२॥
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थित" ॥ रघु०—१५/७६॥

राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा यज्ञ की दक्षिणा [रघु० १/३१] के सदृश थी। इस कल्पना को महाकवि ने "यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणासरसः" इत्यादि यजुर्वेद—(१७/४२) के मन्त्र से प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार के अन्य अनेक उपनिषदों एवं स्मृतियों के उद्धरण उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट विदित होता है कि कालिदास वैदिक-साहित्य से पूर्णरूपेण परिचित थे।

भारतीय-दर्शनशास्त्र के भी वे पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने भारतीय-दर्शनशास्त्र तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न शाखाओं का भी अध्ययन किया था। "सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्व की विद्यमानता है" वेदान्त-दर्शन की यह कल्पना उनकी प्रायः सभी रचनाओं में पायी जाती है। पुरुष (आत्मा) उदासीन है, सृष्टि में चारों ओर दृष्टिगोचर होने वाली प्रवृत्तियाँ प्रकृति की हैं, इस प्रकार के सांख्य दर्शन के सिद्धान्त का उल्लेख 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोकों में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है—

"त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥" कुमारसंभव २/१३॥
बुद्धेरिवाव्यमुदाहरन्ति"............इत्यादि—रघु०—१२/६०॥

योगदर्शन का विषय उनके कुमारसंभव (३/४६-५१) के तृतीय सर्ग में उपलब्ध होता है। मनुस्मृति में बतलाये गये नियमों के अनुसार ही राजा दिलीप की प्रजा व्यवहार करती थी। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कन्या के धरोहर होने, उसका विवाह कर देने पर उऋण हो जाने तथा गान्धर्व-विवाह आदि का वर्णन महाकवि के स्मृति-शास्त्रों-सम्बन्धी ज्ञान का अभिशा० के चतुर्थ अङ्क में उपलब्ध होता है। इन उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि कालिदास को स्मृति एवं धर्मशास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञान था।

उनकी रचनाओं में ऐसे अनेक उद्धरण उपलब्ध होते हैं कि जिनसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र आदि अनेक शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का पता पाठक को लग जाता है। अकेला 'अभिज्ञानशाकुन्तल' ही उनके 'नाट्यशास्त्रीय' ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'मेघदूत' में वर्णित मार्ग-वर्णन से तथा भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान का भान पाठक को भलीभाँति हो जाता है। इसके अतिरिक्त उनके ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, चित्रकला, प्रसाधनकला, नृत्य, गीत, वाद्य आदि सम्बन्धी ज्ञान का भी पता उनके ग्रन्थों से ही लग जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास महान् ज्ञानी तथा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि थे।

कालिदासत्रय--असाधारण प्रसिद्धि के कारण महाकवि कालिदास का नाम, उनके पश्चात् उपाधि के रूप में प्रचलित हो गया। कालिदास के अनन्तर जो भी उत्तम कवि हुये उनको या तो [illegible] के द्वारा कालिदास की उपाधि प्राप्त हुई अथवा उन्होंने अपना उपनाम ही "कालिदास" रख लिया। परिणामस्वरूप कालिदास नामधारी अनेक कवि हो गये तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थ कालिदास-कृत समझे जाने लगे। इस प्रकार के तीन कालिदासों का ज्ञान 'राजशेखर' को था। उन्होंने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' में लिखा है :—

"एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो केनचित्।
शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥"

कालिदास की रचनायें

कालिदास के नाम से ४१ रचनायें उपलब्ध होती हैं। इन ४१ इकतालीस[1] में से प्रथम ६ ग्रन्थों को ही प्रामाणिक रूप से कालिदास द्वारा रचित माना जाता है। इन छः ग्रन्थों को महाकवि कालिदास रचित मानने में किसी भी विद्वान् अथवा आलोचक को कोई आपत्ति नहीं है। सप्तम रचना "ऋतुसंहार" के बारे में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। उनका कथन है कि इस ग्रन्थ में न तो

---

१. (१) रघुवंश (२) कुमारसंभव (३) मेघदूत (४) मालविकाग्निमित्र (५) विक्रमोर्वशीय (६) अभिज्ञानशाकुन्तल (७) ऋतुसंहार (८) कुन्तलेश्वर-दौत्य (९) अम्बास्तव (१०) कालीस्तोत्र (११) कल्याणस्तव (१२) काव्य-नाटकालङ्कार (१३)...(१४) गंगाष्टक (१५) घटकर्पर (१६) चर्चास्तव (१७) चण्डिकादण्डकस्तोत्र (१८) ज्योतिर्विदाभरण (१९) दुर्घटकाव्य (२०) नलोदय (२१) नवरत्नमाला (२२) पुष्पबाणविलास (२३) मकरन्दस्तव (२४)...(२५) मंगलाष्टक (२६) महापद्मषट्क (२७) रत्नकोष (२८) राक्षसकाव्य (२९) लक्ष्मीस्तव (३०) लघुस्तव (३१) विद्वद्विनोदकाव्य (३२) बृन्दावनकाव्य (३३) वैधमनोरमा (३४) शद्विचन्द्रिका (३५) शृङ्गार तिलक (३६) शृङ्गार रसाष्टक (३७) शृंगारसार काव्य (३८) श्यामलादण्डक (३९) श्रुतबोध (४०) सप्त-श्लोकी रामायण (४१) सेतुबन्ध॥
विक्रमोर्वशीय-भूमिका, पृष्ठ—७।

कालिदास-सदृश शैली तथा न वाग्वैदग्ध्य ही उपलब्ध होता है और न इसके कालिदासकृत होने की पुष्टि में ही कोई दृढ़ प्रमाण उपलब्ध होता है। किन्तु डॉ० मिराशी आदि कुछ विद्वानों ने 'ऋतुसंहार' को कालिदासकृत माना है। इसके अतिरिक्त "कुन्तलेश्वरदौत्य" भी कालिदास की रचना है ऐसा "औचित्यविचारचर्चा" में "कुन्तलेश्वरदौत्य" का उद्धरण करते हुये कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने लिखा है। शेष ग्रन्थों के बारे यही कहना उचित होगा कि ये ग्रन्थ कालिदास उपाधिधारी अथवा नामधारी किन्हीं कवियों के हो सकते हैं।

इन प्रमाणित ७ ग्रन्थों में से (१) रघुवंश तथा (२) कुमारसंभव—नामक दो महाकाव्य हैं। (३) मेघदूत तथा (४) ऋतुसंहार—गीतिकाव्य तथा शेष तीनों नाटक है।

रघुवंशम्

यह महाकवि कालिदास द्वारा रचित एक महाकाव्य है। इसे समस्त संस्कृत साहित्य में उत्कृष्ट महाकाव्य माना गया है। इसमें १९ सर्ग हैं, जिनमें सूर्यवंशी राजाओं के चरित्र का चित्रण किया गया है। प्रथम ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों—दिलीप, रघु, अज और दशरथ—का वर्णन है। १०–१५ सर्ग तक रामचरित का तथा शेष चार सर्गों में राम के उत्तरकालीन वंशजों का वर्णन है। प्रमुख रूप से रघु तथा राम के चरित्र को ही कवि ने प्रधानता दी है।

इस महाकाव्य का नाम 'रघुवंश' क्यों पड़ा ?

'रघुवंशम्' में 'रघु' शब्द रघुवंशी राजाओं का ही बोधक है। रघूणां वंशः (षष्ठी तत्पुरुष) अर्थात् रघु राजाओं का वंश। "रघुवंश" अधिकृत्य कृतं महाकाव्यं रघुवंशम्। रघु—वंश + "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" सूत्र से--अण्। बाद में "लुम्बाख्यायिकाभ्यो बहुलम्" वार्तिकसूत्र से 'अण्' का लोप होकर 'रघुवंशम्' नाम बनता है। अब इसका अर्थ होगा—वह महाकाव्य जिसमें रघु-राजाओं के वंश का वर्णन किया गया है। महाकाव्य शब्द नपुंसकलिङ्ग है, अतः 'रघुवंशम्' भी नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त हुआ है।

इस स्थल पर यह शंका की जाती है कि 'रघुवंशम्' में कोई आख्यायिका नहीं है। फिर "लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्" वार्तिकसूत्र की प्रवृत्ति यहाँ कैसे

को जा सकती है ? इसका समाधान यह है कि 'आद्यायिकाभ्य:' में विद्यमान बहुवचन के बल से इस वा० सूत्र की प्रवृत्ति अन्य स्थलों पर भी हो जाती है।

अथवा—भट्टोजिदीक्षित द्वारा सिद्धान्तकौमुदी में लिखित "रघूणामन्वयं वक्ष्येनिरुध्यमानायदुभि: कथचिदिति तु रघुयदुशब्दयोस्तदपत्ये लक्षणया।" पंक्ति के आधार पर लक्षणा द्वारा 'रघुवंश' का अर्थ रघु राजाओं के वंश का वर्णन करने वाला महाकाव्य मानकर 'अण्' प्रत्यय तथा उसका लोप किये जाने की प्रक्रिया का त्याग ही कर दिया जाये तो भी अभेदोपचार से दोनों को एक-सा मान लेने पर नपुंसकलिंग हो ही जायेगा।

"रघुवंश की कथा का मूलस्रोत—प्रधानरूप से इस महाकाव्य" की कथा का मूलस्रोत 'वाल्मीकि-रामायण' ही है। कालिदास ने इसी ग्रन्थ से अपने महाकाव्य 'रघुवंश' के लिये कथानक को लिया है। यद्यपि उन्होंने उक्त रामायण के अनेक दृश्यों को छोड़ दिया है अथवा उनका नामोल्लेख मात्र ही किया है, फिर भी कथन का मूल आधार वाल्मीकि-रामायण को ही कहा जा सकता है, क्योंकि महाकवि ने सबसे अधिक श्रद्धा महर्षि वाल्मीकि के ही प्रति प्रकट की है। उन्होंने वाल्मीकि को आदिकवि भी कहा है तथा उनके महाकाव्य की भी चर्चा की है। वे लिखते हैं कि—

जब वाल्मीकि-रचित रामायण को कुश तथा लव गाया करते थे तो सभा ध्यानावस्थित होकर उस कथा का श्रवण किया करती थी :—

'तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनो प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ।। रघु० १५/६६ ।।
"वृत्तं रामस्य वाल्मीके: कृतिस्तो किंनरस्वनो।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ।।" रघु० १५/६४ ।।

महर्षि वाल्मीकि के प्रति प्रदर्शित इस आदरभाव के आधार पर यह कहा जाना असंगत न होगा कि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' का कथानक वाल्मीकि-रामायण से ही लिया है।

इसके अतिरिक्त उनकी कथा के प्रेरणास्रोत—शिवपुराण, विष्णुपुराण, पद्म-पुराण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ भी हो सकते हैं। किन्तु इक्ष्वाकुवंश का राजा दिलीप से लेकर राजा अग्निवर्ण तक का जो क्रम 'रघुवंश' में उपलब्ध होता है, वैसा इन पुराणों में नहीं मिलता है। वाल्मीकि-रामायण

में भी नहीं मिलता है। वाल्मीकि-रामायण के बालकाण्ड में ७० वें सर्ग के श्लोक संख्या १९/३२ में यह वंशक्रम इस भाँति वर्णित है—मरीचि, कश्यप, विवस्वान, मनु, इक्ष्वाकु, कुक्षि, विकुक्षि, कण, अनरण्य, पृथु, त्रिशंकु, धन्धुमार, भुवनाश्व, मानधाता; ससन्धि; ध्रुवसन्धि; भरत; असित; सगर; असमजस; अंशुमान; दिलीप; भगीरथ; ककुत्स्थ; रघु; कल्माषपाद; शंखण; सुदर्शन; अग्निवर्ण; मरू; प्रशुश्रुक; अम्बरीष; नहुष; ययाति, नाभाग, अज, दशरथ, राम, कुश-लव। आदि-आदि। अन्य पुराणों में भी लगभग ऐसा ही क्रम उपलब्ध होता है। इस आधार पर रघु दिलीप के पुत्र न होकर प्रपौत्र होते हैं। इसी भाँति अज रघु के पुत्र के पुत्र न होकर उनके पश्चात् हुये ग्यारहवें राजा हैं। सुदर्शन का पुत्र अग्निवर्ण अज के पूर्वजों म आ जाते हैं। अथवा हो सकता है कि यह अग्निवर्ण कोई और ही रहे हों, रघुवंश के अग्निवर्ण न हों।

रघुवंश के अनुसार यह क्रम इस प्रकार है :—दिलीप, रघु, अज, दशरथ, कुश, अतिथि, निषध, नल, नभ, पुण्डरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अहीनगु, परियात्र, शिल, उन्नाभ, वज्र-नाभ, शंखण, व्युषिताश्व, हिरण्यनाभ, कौशल्य ब्रह्मिष्ठ, पुत्र, ध्रुवसंधि, सुदर्शन, अग्निवर्ण।

महाकवि कालिदास ने मूल कथानक में कुछ वर्णनात्मक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किये हैं। परिणामस्वरूप रघुवंश का कथानक अत्यन्त रोचक, आकर्षक तथा रसानन्द का व्यञ्जक बन गया है। इस भाँति महाकवि ने अनेक स्वाभाविक तथा मनोरम प्रयोगों द्वारा एक अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि की है।

रघुवंश की कथावस्तु (कथानक)

प्रथम सर्ग—मनुवंशोत्पन्न अयोध्यापति राजा दिलीप के कोई सन्तान नहीं थी। इस कारण वे पत्नी सहित बड़े दुःखी रहा करते थे। एक दिन उन्होंने राज्य के सम्पूर्ण भार को अपने मन्त्रियों को सौंप दिया और स्वयं अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ अपने कुलगुरु वसिष्ठ के आश्रम में चले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपना सम्पूर्ण दुःख महर्षि वसिष्ठ से कहा। महर्षि ने ध्यानावस्थित होकर राजा के सन्तान न होने के कारण को भली-भाँति जान लिया और राजा दिलीप से कहा—"हे राजन्! बहुत दिन पूर्व जब आप इन्द्र की सेवा कर स्वर्गलोक से वापिस आ रहे थे, तब कल्पवृक्ष के नीचे

कामधेनु बैठी हुई थी। शीघ्रतावश तुमने उसकी ओर देखा नहीं। उसका अपमान हुआ। अतः क्रोधित होकर उसने तुमको शाप दिया—"पुत्रो नोत्पत्स्यतेतवममसन्तानशुश्रूषां यावत्वं न करिष्यति।" अर्थात् जब तक तुम उसकी सन्तान की सेवा नहीं करोगे, तब तक तुमको पुत्र-प्राप्ति नहीं होगी। किन्तु आकाशगंगा में क्रीड़ा करते हुए दिग्गजों की चिंघाड़ के कारण न तो आप ही उस शाप को सुन सके और न आपका सारथी ही। अब इस समय कामधेनु तो आपको मिल नहीं सकती है क्योंकि वह पाताल में वरुणदेव के यज्ञ में आहुति की सामग्री देने गयी है। उसकी सन्तान मेरे आश्रम में विद्यमान है। पत्नी सहित आप विधिवत् उसकी सेवा करें। जब यह चले तब आप भी उसके पीछे पीछे चलें, जब यह बैठे तब आप भी बैठ जायें, जब वह खड़ी होवे, तब आप भी खड़े हो जायें और जब वह जल पीये तो आप भी जल पीयें। इसके सो जाने पर आप भी शयन करें। इस भाँति की गई सेवा द्वारा जब वह प्रसन्न हो जावेगी, तब आपकी अभिलाषा को पूर्ण करेगी।" राजा ने मुनि के उपर्युक्त परामर्श को शिरोधार्य कर लिया और वहीं वसिष्ठ मुनि के ही आश्रम में पत्नी सहित ठहर गये।

द्वितीय सर्ग—दूसरे दिन प्रातःकाल राजा दिलीप ने अपनी पत्नी सहित नन्दिनी नामक उस गाय का विधिवत् पूजन किया तथा बछड़े द्वारा दुग्ध-पान कर लिये जाने के अनन्तर वन में चरने के लिये गाय को छोड़ दिया। स्वयं भी उसके पीछे पीछे चल दिये। कुछ दूर तक तो उनकी पत्नी सुदक्षिणा तथा कुछ सेवक राजा के साथ-साथ गये, बाद में राजा ने सुदक्षिणा और सभी सेवकों को वापिस कर दिया, क्योंकि दिलीप जैसे प्रतापी क्षत्रिय राजा को अपनी रक्षा के लिये किसी सहायक की आवश्यकता न थी। अब राजा स्वादिष्ट हरी-हरी घास के ग्रासों द्वारा कण्डूयन तथा वनमक्षिका-निवारण इत्यादि कार्यों के द्वारा, अपनी इच्छानुसार उस वन में विचरण करने वाली गाय की सेवा में रत हो गये। गाय की सेवा में संलग्न राजा गाय के बैठने पर स्वयं भी बैठ जाते थे, जब यह चलने लगती थी तब उसका अनुगमन करते थे, उसके द्वारा जल पी लेने पर ही स्वयं भी जल पीते थे। इस भाँति राजा दिलीप छाया के सदृश गाय की क्रियाओं का अनुकरण एवं अनुगमन करते हुयें अपने गोसेवाव्रत

में संलग्न थे। सूर्यास्त के समय गाय के साथ वे आश्रम लौट आते थे। उस समय सुदक्षिणा उसकी विधिपूर्वक पूजा करती थी। तदनन्तर राजा गुरु वसिष्ठ के चरणों की वन्दना कर पत्नी सहित रात्रि में भी उसकी सेवा में तत्पर रहते थे। वे उसके पास दीपक रख कर, जब वह सो जाती थी तब स्वयं भी सो जाते थे। उसके जागने पर उठ बैठते थे। इस भाँति सेवा करते-करते जब २१ दिन बीत गये, तब गाय ने राजा दिलीप के सेवाव्रत की निष्ठा की परीक्षा लेने के लिये सोचा। तदनुसार २२वें दिन वह गङ्गा की धारा के गिरने वाले प्रदेश के समीप हिमालय की एक गुफा में प्रविष्ट हो गई।

'कोई भी हिंसक प्राणी मन से भी नन्दिनी पर आक्रमण करने की बात नहीं सोच सकता है, ऐसा जानकर राजा उस समय पर्वतीय शोभा को देख रहा था। इसी बीच एक सिंह ने गाय पर आक्रमण कर उसे दबा लिया। गाय के आर्त्तनाद का श्रवण कर राजा ने उसकी ओर दृष्टिपात किया और उसे सिंह द्वारा आक्रान्त देखा। जैसे ही राजा ने अपने तूणीर (तरकश) से बाण निकालना चाहा, वैसे ही उनका हाथ बाण के अग्र भाग पर चिपक कर रह गया। राजा को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। वह अपनी इस दशा के कारण अन्दर ही अन्दर क्रोधाग्नि में जलने लगा। राजा को विस्मित तथा विवश देखकर सिंह ने मनुष्य की वाणी में राजा से कहा—"आप मुझे मारने की बात सोचें भी नहीं। कुम्भोदर नामक, भगवान् शंकर का अनुचर हूँ। अतः आप मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते हैं। जो यह देवदारु का वृक्ष आप सामने देख रहे हैं, इसका पालन-पोषण पार्वती जी द्वारा अपने पुत्र के समान ही किया गया है। एक बार जंगली हाथी ने यहाँ आकर इसकी छाल को रगड़ डाला। इससे पार्वती को महान् कष्ट हुआ। उसी समय भगवान् शङ्कर ने इस वृक्ष की रक्षा हेतु मुझे यहाँ नियुक्त किया है और यह भी कहा है कि जो भी प्राणी स्वेच्छा से यहाँ आ जायेगा वही तुम्हारा भोज्य बनेगा। आज यह गाय अपनी इच्छा से स्वयं ही यहाँ आ गई है, अतः यही मेरा भक्ष्य होगी। आप अपने गुरु के प्रति सच्ची भक्ति दिखला चुके हैं तथा कर्त्तव्य का भी पालन कर चुके हैं। यदि किसी वस्तु की शस्त्र के द्वारा रक्षा न की जा सके तो इससे शस्त्रधारियों की कीर्ति क्षीण नहीं होती। गुरु को तो आप

ऐसी सैंकड़ों गायें देकर प्रसन्न कर ही सकते हैं। अतः अब आप वापिस चले जाइये।"

मानव-वाणी में सिंह को बोलते देखकर राजा और भी अधिक आश्चर्य में पड़ गया। उसने सिंह से कहा—"भगवान् शिव मेरे पूज्य हैं, पर गुरु के धन को भी तो मैं नष्ट होते हुये नहीं देख सकता। अतः अपनी भूख मिटाने के लिये आप मुझे खा लीजिये तथा इस गाय को छोड़ दीजिये।"

सिंह ने उत्तर में कहा 'हे राजन्! आप मुझे पूर्ण विवेकहीन ही प्रतीत होते हो, क्योंकि एक साधारण सी गाय की रक्षा के लिये तुम अपने एकछत्र साम्राज्य और युवावस्था से अलङ्कृत सुन्दर शरीर का ही बलिदान कर देना चाहते हो। यदि दया की दृष्टि से तुम ऐसा करने की इच्छा रखते हो तो भी तुम्हारा यह कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण न कहा जा सकेगा क्योंकि अपने शरीर का बलिदान कर देने से इस समय तुम केवल एक गाय की ही रक्षा कर सकोगे। किन्तु यदि जीवित रहोगे तो असंख्य प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ हो सकोगे।"

सिंह की बात सुनकर राजा ने सिंह से कहा कि क्षत अर्थात् विनाश से रक्षा करने वाले को 'क्षत्र' कहा गया है, 'क्षत्र' शब्द क्षत्रिय का ही वाचक है। अतः क्षत्रिय राजा होकर भी यदि मैं अपने सामने नष्ट होने वाली इस गाय की रक्षा न कर सका, तो मेरा जीवन और राज्य सब व्यर्थ ही हैं। यह कोई साधारण गाय नहीं है। यह तो कामधेनु के सदृश ही है। आपने भगवान् शिव के प्रताप से ही इस पर आक्रमण किया है। साधारण जीव-जन्तु तो इस पर आक्रमण करने की बात सोच भी नहीं सकते हैं। अतः इस दशा में यही उचित है कि आप मुझे खा लें। ऐसा करन से आपकी भूख भी शान्त हो जायेगी और गुरु वसिष्ठ का भी यह गाय रूपी धन नष्ट नहीं होगा।

यदि आप मुझ पर कुछ भी दया दिखलाना चाहते हैं, तो आप इस पाञ्चभौतिक शरीर पर दया न करके मेरे कीर्ति रूपी शरीर की रक्षा कीजिये। [कीर्तिर्यस्य स जीवति] इस भौतिक शरीर के प्रति मेरी कोई आस्था नहीं है। मेरी दृष्टि में कीर्ति ही सब कुछ है। जिसकी कीर्ति जब तक विद्यमान रहा करती है, तब तक वह जीवित ही रहा करता है। अतः आप मेरी कीर्ति की रक्षा करें।

परस्पर वार्तालाप करने से आप मेरे मित्र भी हो चुके हैं। मित्र के ना आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये तथा इस गाय के स्थान पर मुझे खाकर आप अपना व्रतान्त भोजन करिये।"

अन्त में सिंह ने राजा की बात को स्वीकार कर लिया। अब राजा हाथ भी बन्धनमुक्त हो गया। अतः वह अस्त्र छोड़कर सिंह के समक्ष मांस पिण्ड (लोथड़ा) के सदृश स्थित हो गया और सिंह के आक्रमण की प्रतीक्षा कर लगा। इसी समय राजा के ऊपर आकाश मार्ग में देवताओं ने पुष्प-वर्षा की नन्दिनी ने राजा से उठने के लिये कहा। राजा ने उठकर वहाँ केवल प्रस्तु स्तनी गाय को ही देखा, सिंह को नहीं। आश्चर्यचकित राजा को नन्दिनी ने कहा—"हे राजन्! मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये ही इस माय सिंह को रचा था। वस्तुतः मुझ पर आक्रमण करने की क्षमता किसी भी में नहीं है! मैं तुम्हारी गुरुभक्ति तथा अपने प्रति की गई करुणा से अत्यधि प्रसन्न हूँ। अतः अब तुम मनचाहा वरदान मुझ से माँग लो।"

राजा ने अति प्रसन्नावस्था में विद्यमान गाय को देखकर यह वर माँगा अनन्त कीर्तिमान् तथा वंश को चलाने वाला पुत्र उसे प्राप्त हो। नन्दिनी कहा 'ऐसा ही हो'। इसके साथ ही उसने राजा से उसके दूध को पत्तों के दो में दुहकर पी लेने को कहा। राजा ने गाय से निवेदन किया कि—हे माता मैं बछड़े के पीने तथा यज्ञ से बचे हुये आपके दुग्ध को गुरु वसिष्ठ की आज्ञा पीने की इच्छा रखता हूँ।' इस उत्तर से नन्दिनी ने और भी अधिक प्रसन्न का अनुभव किया। सायंकाल दोनों ही आश्रम में वापिस आ गये। राजा गुरु वसिष्ठ से नन्दिनी द्वारा प्रदत्त वर की बात कही और उनकी आज्ञा बछड़े एवं यज्ञ से अवशिष्ट दुग्ध का पान भी किया।

दूसरे दिन वशिष्ट ने गो-सेवा-व्रत पूरा हुआ जानकर राजा और रानी आशीर्वाद दिया तथा उन्हें उनकी राजधानी अयोध्या के लिये विदा किय राजधानी में पहुँचकर राजा ने पुनः राज्य-भार को ग्रहण किया। कुछ पश्चात् रानी सुदक्षिणा ने गर्भ धारण किया।

तृतीय सर्ग—दशम मास में राजा के पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रघु रखा गया। वह बड़ा प्रतापी राजा हुआ। युवा होने पर राजा ने उसका विवाह कर उसे युवराज बना दिया। तत्पश्चात् उन्होंने ९९ अश्वमेघ यज्ञ निर्विघ्न किये। सौवें यज्ञ के लिये उन्होंने घोड़ा छोड़ा। किन्तु इन्द्र इसको सहन न कर सके। अतः उन्होंने यज्ञ के उस घोड़े को चुरा लिया। परिणामस्वरूप इन्द्र तथा रघु का युद्ध हुआ। किन्तु रघु को इन्द्र हरा न सके। इन्द्र ने रघु को वरदान दिया कि तुम्हारे पिता बिना घोड़े के ही यज्ञ पूरा कर लें। यह ज्ञात होने पर दिलीप अति प्रसन्न हुये। उन्होंने राज्य का भार रघु को सौंप दिया तथा सपत्नीक वन में जाकर तपस्या करने लगे।

चतुर्थ सर्ग—राज्यभार ग्रहण के अनन्तर रघु ने दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। सभी दिशाओं में विद्यमान सभी राजाओं को पराजित कर उन्होंने अन्त में हिमालय पर अपना झण्डा गाड़ दिया। तदनन्तर अपनी राजधानी अयोध्या को वापिस आ गये और 'विश्वजित' नामक यज्ञ को किया।

पञ्चम सर्ग—सम्राट रघु के समय में एक बार कौत्स नामक ऋषि ने अपने गुरु वरतन्तु से विद्याध्ययन की समाप्ति पर विदा होते समय गुरु जी से दक्षिणा माँगने को कहा। किन्तु वरतन्तु ने कुछ भी न माँगा। कौत्स द्वारा बार-बार हठ किये जाने पर विवश होकर उन्होंने ने कहा--'हे कौत्स ! मैंने तुमको चतुर्दश १४ विद्यायें पढ़ाई हैं। अतः मुझे १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रायें लाकर दो। यह सुनकर कौत्स दुविधा में पड़ गये। वे महाराज रघु के समीप गये। विश्वजित यज्ञ में सब कुछ दान देने के कारण उनके पास कुछ भी न बचा था। अतः ब्राह्मण कौत्स को दान देने के निमित्त उन्होंने कुबेर पर ही आक्रमण करने की इच्छा की। किन्तु भयभीत होकर कुबेर ने रात्रि के समय ही रघु के आंगन में स्वर्ण की वर्षा कर दी। प्रातःकाल होने पर उस सम्पूर्ण स्वर्ण को राजा रघु ने कौत्स को देकर विदा कर दिया।

कुछ समय पश्चात् रघु के पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम 'अज' रक्खा गया। शनैः शनैः अज युवा हो गये। इसी समय विदर्भ नरेश भोज ने अपनी बहन इन्दुमती का स्वयंवर रचा। अज भी इस स्वयंवर में गये। मार्ग में नर्मदा नदी के किनारे उनकी भेंट गन्धर्वराज प्रियदर्शन के पुत्र प्रियंवद से

हो गई जो मतंग ऋषि के शाप के कारण हाथी हो गया था। अज का बाण लगते ही वह शाप-मुक्त होकर गन्धर्व रूप में हो गया। उसने अज को 'सम्मोहन' नामक एक अस्त्र प्रदान किया जिसके द्वारा वे शत्रुओं का प्राण लिये विना ही उन पर विजय प्राप्त कर सकते थे। अस्त्र को स्वीकार कर अपनी सेना के साथ 'अज' नियत समय पर स्वयंवर में पहुँच गये।

षष्ठ सर्ग—स्वयंवर में अनेक देशों के राजा उपस्थित थे किन्तु इन्दुमती ने किसी के भी गले में जयमाला न डालकर 'अज' के गले में जयमाला डाल दी। विदर्भराज ने उसका विवाह अज के साथ कर दिया। यह देखकर अन्य राजा लोग मन ही मन अज से जलने लगे।

सप्तम सर्ग—इन्दुमती के साथ अज जब अपने घर की ओर चले जा रहे थे तो मार्ग में सब राजाओं ने उसका मार्ग रोक लिया किन्तु 'अज' ने सम्मोहन नामक अस्त्र द्वारा सबको पराजित कर दिया और अपनी राजधानी में पहुँच गये। रघु ने 'अज' को राज्य देकर स्वयं वन के लिये प्रयाण किया।

अष्टम सर्ग—पिता के वनगमन के समय अज ने उनके चरण पकड़कर उनसे वन न जाने का अनुरोध किया। पुत्र के अश्रुपूर्ण नेत्रों को देखकर रघु ने वन जाने का विचार त्याग दिया। उन्होंने संन्यास ग्रहण कर नगर के बाहर कुटी में रहने का निश्चय किया और वहीं रहने भी लगे। कुछ दिनों पश्चात् रघु का देहावसान हो गया। इसके अनन्तर 'अज' के दशरथ नामधारी पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन राजा 'अज' अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ राजभवन में विहार कर रहे थे, उसी समय गोकर्ण को अपनी वीणा सुनाने के लिये नारद जी आकाशवाणी से आ रहे थे। वेग के कारण वायु के झोंके से नारद जी की वीणा की माला गिर गई और वह इन्दुमती के गले में आ गिरी, जिससे इन्दुमती की मृत्यु हो गई। इससे उत्पन्न शोक के कारण 'अज' ने अत्यधिक विलाप किया। ज्ञात होने पर वसिष्ठ ने अपने शिष्य को अज के समीप भेजा जिसने उन्हें भली-भाँति समझाया तथा इन्दुमती की मृत्यु का कारण भी बतलाया। तदनन्तर अज ने दशरथ को राज्यभार सौंप दिया और स्वयं मृत्यु का आलिङ्गन किया।

नवम सर्ग—दशरथ ने कौशल, मगध तथा केकय देशों की कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी नाम की राजकुमारियों से विवाह किया। एक दिन शिकार खेलते-खेलते वे तमसा नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ अपने अन्धे मां-बाप को जल पिलाने हेतु श्रवणकुमार नदी से जल भर रहे थे। जल भरने के शब्द को सुनकर दशरथ ने उसे हाथी का शब्द समझा और अपना शब्दवेधी बाण छोड़ दिया जिससे श्रवणकुमार की मृत्यु हो गयी। यह ज्ञात होने पर श्रवण के माता-पिता ने दशरथ को शाप दिया कि हमारी ही तरह पुत्र-शोक में तुम्हारी मृत्यु होगी।

दशम सर्ग—बहुत काल-पर्यन्त राज्य करते रहने पर भी दशरथ के जब कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ तब उन्होंने ऋषियों को बुलाकर पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया। परिणामस्वरूप कौशल्या के राम, सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा कैकेयी के भरत नाम के चार पुत्र उत्पन्न हुए।

एकादश सर्ग—सभी राजकुमारों के बड़े हो जाने पर एक दिन ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ के समीप आये और यज्ञ की रक्षा के निमित्त उन्होंने रामचन्द्र जी को उनसे मांगा। राजा ने राम और लक्ष्मण को मुनि के साथ भेज दिया। विश्वामित्र के आश्रम में पहुँचकर दोनों बालक यज्ञ की रक्षा में संलग्न हो गये। कुछ दिनों के पश्चात् मिथिला नरेश जनक ने अपनी पुत्री सीता का स्वयंवर रचा। राम, लक्ष्मण भी विश्वामित्र के साथ वहाँ गये। वहाँ जाकर राम ने धनुष तोड़ा तथा सीता का विवाह उनके साथ हो गया। जनक ने अपनी दूसरी कन्या उर्मिला का विवाह भी लक्ष्मण के साथ कर दिया। राजा जनक के लघु भ्राता कुश-ध्वज की कन्या माण्डवी और कीर्ति का विवाह क्रमशः भरत और शत्रुघ्न के साथ सम्पन्न हो गया।

द्वादश सर्ग—राजा दशरथ अब वृद्ध हो चले थे। अतः उन्होंने राज्य का भार राम को देकर उन्हें युवराज बनाना चाहा। कैकेयी को जब यह ज्ञात हुआ तो वह सोचने लगी कि मेरा पुत्र भरत क्यों न गद्दी पर बैठे? अतः उसने राजा दशरथ से कहकर राम को १४ वर्षों के लिये वन में भिजवा दिया। पिता की आज्ञा स्वीकार कर राम सीता-लक्ष्मण सहित वन को चले गये। पुत्र-वियोग में राजा की मृत्यु हो गई। बनवास के दिनों में एक दिन राम पंचवटी में बैठे हुये थे। वहाँ रावण की बहन शूर्पणखा आई और

उसने राम से प्रेम करने की इच्छा प्रकट की। इस पर राम के आदेशानुसार लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक व कान काट लिये। यह सुनकर रावण अत्यधिक क्रोधित हुआ। उसने भिखारी का वेष धारण कर सीता को चुरा लिया। ज्ञात होने पर राम सीता की खोज में निकल पड़े। खोजते-खोजते वे ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ वानरराज सुग्रीव के साथ उनकी मैत्री हो गयी। सुग्रीव ने राम की बहुत सहायता की। यह ज्ञात होने पर कि रावण सीता को चुराकर लंका में ले गया है, राम ने हनुमान को सीता की खोज के निमित्त लंका भेजा। हनुमान वहाँ गये, सीता से भेंट की और लंका को जला दिया। तत्पश्चात् वानरों की सहायता से समुद्र का पुल बांधकर राम ने रावण पर चढ़ाई की। युद्ध में भाइयों तथा पुत्रों सहित रावण को मारा गया। इसके अनन्तर राम विभीषण को लंका का राज्य देकर, सीता की अग्नि परीक्षा कर, प्रमुख वानरों सहित पुष्पक-विमान द्वारा अयोध्या को चले आये।

त्रयोदश सर्ग—पुष्पक विमान में चलते हुये राम ने सीता को समुद्र तथा अन्य सभी वन के उन स्थानों को दिखलाया कि जहाँ-जहाँ पर उन्होंने सीता को खोजा था अथवा जहाँ-जहाँ पर उन्होंने निवास आदि किया था। अयोध्या पहुँचने पर विमान पृथ्वी पर उतरा। राम का भरत से मिलन हुआ। भरत, शत्रुघ्न तथा अन्य मन्त्रियों से भेंट करने के पश्चात् राम ने अयोध्या के उपवन में डेरा डाला।

चतुर्दश सर्ग—एक दिन राम को अपने दूत भद्रनायक से ज्ञात हुआ कि राक्षस के गृह में रहने के पश्चात् उनका पुनः सीता को स्वीकार कर लेना जनता को प्रिय नहीं लग रहा है तथा वह इस बात की निन्दा भी करती है। यह सुनकर राम ने अपने ऊपर लगे दोष का निराकरण करने का निश्चय किया और गर्भावस्था में विद्यमान सीता को लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि के आश्रम में भेजकर उनका परित्याग कर दिया।

पञ्चदश सर्ग—रावण की बहन कुम्भीनसी का पुत्र लवणासुर यमुना के किनारे वाले तपस्वियों को बहुत कष्ट दिया करता था। एक दिन एकत्रित होकर राम के समीप जाकर सब ने अपना कष्ट कहा और बतलाया कि जब तक उस राक्षस के हाथ में भाला रहेगा तब तक उसे कोई जीत नहीं सकता। राम ने सेना सहित शत्रुघ्न को लवणासुर का वध करने हेतु भेजा। जाते समय

शत्रुघ्न रात्रि के समय बाल्मीकि के आश्रम में रुके । उसी रात्रि में सीता के लव, कुश नामक पुत्र उत्पन्न हुये । जिस समय शत्रुघ्न मधूपघ्न नामक नगर में पहुँचे उस समय लवणासुर पशुओं को मारकर वापस वन से वापिस आ रहा था । उस समय उसके हाथ में भाला न था । उचित अवसर देखकर शत्रुघ्न ने उसका वध कर दिया । तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा नाम को नगरी बसाई ।

राम आदि चारों भाइयों के दो-दो पुत्र थे । राम के कुश और लव, लक्ष्मण के अङ्गद और चित्रकेतु, भरत के तक्ष और पुष्कल तथा शत्रुघ्न के शत्रुघ्न शत्रुघाती और सुबाहु । राक्षस का वध करने के अनन्तर शत्रुघ्न अपने पुत्रों को मथुरा तथा विदिशा का राज्य सौंपकर अपने ज्येष्ठ भ्राता राम के समीप आ गये ।

बाल्मीकि-रामायण को गाते-गाते एक दिन लव और कुश अयोध्या पहुँचे । राम को जब यह ज्ञात हुआ कि ये बाल्मीकि-आश्रम से आये हैं तथा यह संगीत उनको बाल्मीकि द्वारा सिखाया गया है तो वे अपने भाइयों के साथ बाल्मीकि आश्रम में गये, वहाँ बाल्मीकि द्वारा सीता-ग्रहण सम्बन्धी बात उनसे कही गयी । राम ने उत्तर दिया कि यद्यपि सीता की शुद्धि अग्नि में की जा चुकी है फिर भी रावण के यहाँ रहने के कारण प्रजा में असन्तोष है । अतः यदि वे अपनी पवित्रता का प्रमाण प्रस्तुत करें तो मैं पुत्रों सहित उन्हें स्वीकार कर लूँगा । दूसरे दिन सम्पूर्ण प्रजा एकत्रित हुई । सीता ने परीक्षा देने हेतु पृथ्वी से निवेदन किया कि "हे माता ! यदि मैं मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध होऊं तो आप मुझे अपनी गोद में ले लें ।" ऐसा कहने पर पृथ्वी फट गयी और सीता उसमें समा गयीं । राम ने बहुत मना किया किन्तु वे न मानीं । कुछ दिन पश्चात् राम ने अश्वमेध यज्ञ किया । इसके बाद राम ने भरत के मामा युधाजित् के कहने पर सिन्धु देश का राज्य भरत को दे दिया । भरत ने वहाँ पर गन्धर्वों पर विजय प्राप्त की और तदनन्तर उन्होंने तक्ष तथा पुष्कल नामक अपने दोनों पुत्रों को वहाँ का राज्य दे दिया और स्वयं राम के पास आ गये । लक्ष्मण ने भी राम की आज्ञा से अपने दोनों पुत्र अङ्गद और चित्रकेतु को कारापथ का राज्य दे दिया । तदनन्तर कुशावती का राज्य कुश को और शरावती का राज्य लव को देकर राम भाइयों सहित स्वर्ग को चले गये ।

षोडष सर्ग—अपने पिताओं के स्वर्ग चले जाने के तदनन्तर सभी भाइयों

ने एकत्रित होकर कुश को अपने घर का मुखिया चुना। सभी भाई अपने-अपने राज्य का काम सुखपूर्वक चलाने लगे। एक बार आधी रात के समय अयोध्या की नगर-देवी कुश को स्वप्न में दिखलाई पड़ी। उसने कुश से निवेदन किया कि "हे राजन्! स्वर्गारोहण करते समय राम सभी को साथ ले गये किन्तु मुझ अनाथ को यहीं छोड़ गये। मैं अयोध्या की नगर-देवी हूँ। राम के चले जाने से मेरा सम्पूर्ण ऐश्वर्य और वैभव समाप्त हो गया है। आप जैसे योग्य तथा प्रतापी राजा के होते हुए मेरी यह दशा हो रही है। आप अयोध्या चलकर उसे सनाथ करें।"

उक्त स्वप्न के आधार पर कुश ने कुशावती को ब्राह्मणों को सौंप दिया और फिर अयोध्या में आकर निवास किया।

एक दिन स्त्रियों के साथ सरयू नदी में जलक्रीड़ा करते समय कुश की भुजा पर बंधा 'जैव' नामक आभूषण जल में गिर गया और उन्हें ध्यान भी न आया। यह आभूषण राम को अगस्त्य ऋषि द्वारा प्राप्त हुआ था। राम ने राज्याभिषेक के अवसर पर 'कुश' को दे दिया था। घर आने पर कुश को आभूषण के गिर जाने की बात ज्ञात हुई। उन्होंने मल्लाहों से खोजवाया किन्तु उसका पता न लग सका। मल्लाहों ने कुश से निवेदन किया कि "यह भी संभव है कि जल में निवास करने वाले कुमुद नामक नाग ने उसे चुरा लिया हो"। कुश धनुषबाण लेकर जैसे ही नाग पर आक्रमण करने हेतु चले वैसे ही नाग हाथ जोड़कर उनके समक्ष आकर खड़ा हो गया। उसने कहा—"हे राजन्! मेरी यह कन्या गेंद खेल रही थी उसी समय आकाश की ओर से आते हुये आभूषण को इसने ले लिया। इसका अपराध क्षमा करें।" इसके अनन्तर उसने स्वयं ही अपनी छोटी बहन कुमुद्वती का विवाह कुश से कर दिया। अब कुश सपत्नीक राज्य करने लगे।

सप्तदश सर्ग—कुश के कुमुद्वती से 'अतिथि' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। युवा होने पर कुश ने अतिथि को आन्वीक्षिकी, त्रैयी, वार्त्ता और दण्डनीति नामक चारों विद्यायें सिखाकर उसका विवाह निषधराज की कन्या के साथ कर दिया। इन्द्र की सहायता में युद्ध करते हुये राक्षसों के हाथ से कुश की मृत्यु हो गई। उनकी पत्नी भी सती हो गई। तदनन्तर मन्त्रियों ने 'अतिथि' को राजा बनाया।

अष्टादश सर्ग—अतिथि के निषध नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। योग्य हो जाने पर उसे राज्य देकर अतिथि स्वर्ग को चले गये। अतिथि के पश्चात् उसके पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्रों ने अपनी कुल परम्परा के अनुसार राज्य किया। उनकी क्रमशः नामावली इस प्रकार है :—अथिति के निषध, निषध के नल, नल के नभ तथा इसी प्रकार क्रमशः पुण्डरीक, क्षेमधन्वा, देवानीक, अलीनगु, पारियात्र, शिल, उन्नाभ, बज्रनाभ शखण, व्युषिताश्व, हिरण्यनाभ, कौशल्य, ब्रह्मिष्ठ, पुष्प, ध्रुवसन्धि, सुदर्शन, अग्निवर्ण।

एकोनविंशति सर्ग—अग्निवर्ण अग्नि के सदृश तेजस्वी राजा थे। उसे भार देकर अग्निवर्ण नमिषारण्य में रहने लगे। निष्कण्टक—राज्य को प्राप्त कर अग्निवर्ण पूर्णरूपेण कामुक तथा विलासी बन गया। यहाँ तक कि वह रनिवास के बाहर भी नहीं आता था। जब प्रजा उसके दर्शनार्थ आती भी तो वह खिड़की से एक पैर बाहर लटका दिया करता था। परिणाम यह हुआ कि वह क्षय रोग से पीड़ित हो गया। वैद्यों द्वारा अथक प्रयास करने पर भी वह बचाया न जा सका। इस भाँति लोक से सदा के लिये विदा हो गया। मन्त्रियों ने उसकी गर्भवती रानी को राजसिंहासन पर बैठा दिया। परिषद् की सम्मति के आधार पर वह राज्य-संचालन करने लगी।

द्वितीय सर्ग की विशेषतायें

(१) इस सर्ग की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें राजा दिलीप का चरित्र पूर्णरूपेण स्पष्ट हो गया है। सम्पूर्ण सर्ग में उनके चरित्र की उदात्तता प्रतिबिम्बित होती है।

(२) इस सर्ग के अन्तर्गत सिंह तथा राजा दिलीप के वार्तालाप में नाटकीय-सौन्दर्य की छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। कितने सुन्दर युक्तिसंगत ढंग से एक अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है और तदनन्तर दूसरा उसका उत्तर देते हुये अपने पक्ष की पुष्टि करता है—दर्शनीय है।

(३) इस सर्ग की सम्पूर्ण घटना प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में ही घटित होती है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि महाकवि ने इस सर्ग में प्रकृति का मनोहर-चित्रण आलम्बनरूप में ही किया है।

(४) इस सर्ग में महाकवि द्वारा विशिष्ट अभिप्राय से युक्त शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। उदाहरण के लिये, दिलीप की पत्नी के

लिये प्रयुक्त 'जाया', 'धर्मपत्नी' तथा 'दयिता' शब्दों को ही ले लीजिये। सुदक्षिणा सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से जब नन्दिनी नामक गौ का पूजन करती है तो उस समय उसके लिये 'जाया' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'जाया' शब्द से यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि सुदक्षिणा में सन्तान को उत्पन्न करने (जनन की) की योग्यता विद्यमान है। प्रातःकाल गौ का अनुगमन करते हुये राजा के पीछे-पीछे जब वह कुछ दूर तक जाती है तब उसे 'धर्मपत्नी' कहा गया है। इससे-सुदक्षिणा का पति की अनुगामिनी पतिव्रता होना स्पष्ट हो जाता है। कुछ ही दूर चलने के पश्चात् राजा अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा को वापिस कर देता है। इस स्थान पर उसको 'दयिता' कहा गया है। 'दयिता' शब्द द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा को वह अत्यन्त प्रिय है और इसी-कारण राजा उसके कष्ट को सहन करने में असमर्थ है।

(५) इस सर्ग में काव्य के प्रायः सभी गुणों का समावेश हो गया है। साथ ही स्वाभाविकता सर्वत्र परिलक्षित होती है।

इस भाँति यह कहा जाना उपयुक्त ही है कि भाषा, भाव, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से उक्त सर्ग अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

"रघुवंश का महाकाव्यत्व"

'भूमिका के प्रारम्भ में यह बतलाया जा चुका है कि "रघुवंश" की गणना महाकाव्य के अन्तर्गत की गई है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ द्वारा महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार की गयी है :—

"सर्गबन्धो महाकाव्यं, तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा ।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसः, सर्वे नाटकसंधयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
चत्वारस्तय वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नाति स्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः ।।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।। इत्यादि ।।"

अर्थात् महाकाव्य सर्गों में बंधा होता है । उसमें एक नायक (प्रधानपात्र) होता है जिसका देवता अथवा सद्वंशोत्पन्न क्षत्रिय होना आवश्यक है । अथवा एकवंश में ही उत्पन्न अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं । शृंगार, वीर अथवा शान्त इन ही तीन रसों में से किसी एक को अङ्गी (प्रधान) रस के रूप में होना चाहिये । अन्य रसों का प्रयोग गौण अथवा सहायक रसों के रूप में किया जा सकता है । कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक अथवा किसी सज्जन उदार धर्मात्मा व्यक्ति का वीरतापूर्ण अथवा अनुकरणीय कार्य होना चाहिए । चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिये । महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्मारात्कक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण से होना चाहिये । कहीं पर दुष्टों की निन्दा हो तो कहीं सज्जनों की कीर्ति अथवा उनका गुणगान । न्यूनातिन्यून आठ सर्गों का होना भी आवश्यक है, जो न बहुत छोटे ही हों और न बहुत विस्तृत ही । प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के छन्द हों किन्तु सर्गान्त में छन्द परिवर्तन भी उचित है । कभी-कभी किसी सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है । प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के विषय से सम्बन्धित स्वल्प-संकेत भी होना आवश्यक है ।

महाकाव्य में सायंकालीन प्रकृति-वर्णन, सूर्योदय, रात्रि, संध्या, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, विरह तथा मिलन, मुनि, नगर, यज्ञ, युद्ध, आक्रमण, विवाह तथा पुत्रोत्पत्ति आदि का यथायोग साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना भी आवश्यक है। महाकाव्य का नामकरण भी कथानक के आधार पर अथवा प्रमुख नायक के नाम पर होना चाहिये तथा सर्ग का नाम सर्ग से सम्बन्धित कथा के आधार पर होना उचित है।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षणों में से जिन बातों का होना आवश्यक बतलाया गया है, संभव है कि वे सभी बातें रघुवंश महाकाव्य में विद्यमान न हों किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अधिकांश बातें 'रघुवंश' महाकाव्य में अवश्य विद्यमान हैं।

यह उन्नीस सर्ग में विभक्त है। इसमें एकवंशोत्पन्न अर्थात् रघुकुल में ही उत्पन्न अनेक राजाओं का क्रमिक वर्णन किया गया है। इसका नाम भी इन्हीं राजाओं में से एक महान् प्रतापी राजा 'रघु' के नाम पर 'रघुवंश' रक्खा गया है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग हुआ है। साथ ही अन्तिम दो-एक छन्दों में छन्द-भिन्नता भी विद्यमान है। इसका प्रधान (अङ्गी) रस 'शृंगार' ही कहा जा सकता है। इसमें गौणरूप से करुण, वीर आदि रसों का भी सुन्दर समावेश हुआ है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में भावी कथा की सूचना भी सूक्ष्मरूप से दी गयी है। सर्ग न अधिक छोटे तथा न अधिक विस्तृत ही हैं। महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण एवं नमस्कारात्मक-श्लोक भी विद्यमान हैं, जिनमें शिव-पार्वती की बन्दना की गई है। स्थान-स्थान पर संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, अन्धकार, प्रातःकाल, शिकार, ऋतु, वन, पर्वत, सागर, युद्ध, आक्रमण, विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि का भी आकर्षक एवं मनोहर वर्णन विद्यमान है। शृंगार-सम्बन्धी संयोग अथवा वियोग का भी सुन्दर वर्णन यथास्थान विद्यमान है। चारों पुरुषार्थों से सम्बिन्धित वर्णन भी यथास्थान विद्यमान है। सज्जनों के गुण और दुष्टों की निन्दा का भी यथास्थान बर्णन उपलब्ध होता है।

अतः "रघुवंश" शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य की श्रेणी में ही आता है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों में लघुत्रयी के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में 'रघुवंश' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

महाकवि कालिदास की भाषा तथा शैली

भाषा—महाकवि कालिदास द्वारा प्रयुक्त भाषा सरल, सुबोध, परिष्कृत, प्राञ्जल, परिमार्जित, सरसता से परिपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न है। इसमें क्लिष्टता अथवा दूरान्वय दोष तो कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। उन्होंने कहीं भी पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। जिस स्थल पर जिस प्रकार के भाव का चित्रण किया जाना उनको अभिप्रेत होता है उसी प्रकार की भाषा वे उस स्थल पर प्रयोग करते हैं। स्थान-स्थान पर शब्दों का सारल्य उनकी प्राय: सभी रचनाओं में उपलब्ध होता है। साथ ही भावों का गाम्भीर्य भी उन्हीं शब्दों से प्रकट हो जाता है। द्वितीय सर्ग के दो-एक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

स्थित: स्थितामुच्चलित: प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीर: ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ रघु० २/६॥
संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनु: ॥ रघु० २/१५॥ इत्यादि

उक्त श्लोकों की सरलता एवं सरसता आदि से महाकवि की भाषा सम्बन्धी उपर्युक्त विशेषता का स्पष्टीकरण हो जाता है।

उनका शब्द भण्डार अगाध है। भाषा तथा शब्द भण्डार पर पूर्ण अधिकार होने के कारण उनकी भाषा में एक विचित्र सौन्दर्य तथा चुस्त प्रयोगों का सुन्दर सन्निवेश किया गया है जिसके कारण भाषा में एक अपूर्व-सजीवता ही उत्पन्न हो गई है।

उनके संवाद सूक्ष्म तथा सरल, रोचक और आकर्षक होते हैं। संवादों में उन्होंने सर्वत्र ही अनावश्यक विचार का त्याग किया है। सवादों की भाषा इतनी मधुर तथा सजीव है कि वह प्रस्तुत विषय को अत्यन्त आकर्षक तथा रोचक बना देती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण द्वितीय सर्ग में विद्यमान राजा दिलीप और सिंह का संवाद (रघुवंश–२/२९ से ५९ तक) ही है।

इसके अतिरिक्त इनके वर्णन भी अत्यन्त रोचक तथा सजीव होते हैं। वे जिस वस्तु अथवा जिस घटना का वर्णन करते हैं वह वस्तु अथवा घटना आँखों के सामने ही उपस्थित होती हुई-सी प्रतीत होती है। इतना होने पर

भी उसमें अस्वाभाविकता का तो लेशमात्र भी दर्शन नहीं होता है। [उदाहरण के लिये इसी सर्ग में विद्यमान राजा के गो-सेवा व्रत का वर्णन ही देख लीजिये।

शैली—महाकवि कालिदास के अत्यधिक लोकप्रिय होने का प्रधान कारण उनकी प्रसादगुणपूर्ण एवं लालित्यमय तथा परिष्कृत शैली ही है। ये सभी गुण वैदर्भी-रीति में विद्यमान हैं। इस रीति के सर्वश्रेष्ठ-कलाकार कालिदास ही हैं— "वैदर्भीरिरिसंदर्भे कालिदासो विशिष्यते।"

जिस भाँति अग्नि सूखी लकड़ी में अति शीघ्र ही व्याप्त होकर फैल जाया करती है, उसी भाँति जो गुण सहृदय व्यक्तियों के मानव-पटल को तुरन्त ही व्याप्त कर लेता है वही 'प्रसाद गुण' विशिष्ट कविता, सरस, सरल एवं बोधगम्य हुआ करती है। शास्त्रीय ग्रन्थों ने इस गुण के सम्बन्ध में कहा है—

'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥ साहित्यदर्पण ॥

उनकी इस प्रसादगुण समन्वित शैली ने ही उनको विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान प्राप्त कराया है। इस गुण से युक्त वैदर्भी-रीति का लक्षण आचार्यों द्वारा इस प्रकार किया गया है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचनाललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी-रीतिरिष्यते ॥ साहित्यदर्पण—३ ॥

मधुर शब्द, ललितपदविन्यास, समासों का पूर्णरूपेण अभाव अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त पदों का होना ही वैदर्भी-रीति का लक्षण है।

रघुवंश में तो प्रसादगुणयुक्त वैदर्भी-रीति का साम्राज्य सा हो दृष्टिगोचर होता है, जैसे—

"एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ रघु० २/३७ ॥

वीर-रस सम्बन्धी वर्णनों में भी महाकवि ने वैदर्भी-रीति का ही प्रयोग किया है। यथा—

जहार चान्येत मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ रघु० ३/५६ ॥

यद्यपि महाकवि कालिदास की कृतियों में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज नामक तीनों गुणों को स्थान प्राप्त हुआ है किन्तु फिर भी प्रसादगुण का आधिक्य एवं वैशिष्ट्य उनकी सभी रचनाओं में विद्यमान है।

कोमल तथा सुकुमार भावों का चित्रण करने में तो महाकवि कालिदास सिद्धहस्त ही हैं। इसी वैशिष्ट्य से प्रभावित होकर महाकवि जयदेव ने उनको "कविताकामिनी का विलास" ही कहा है। उनकी शैली की प्रमुख एवं सर्वश्रेष्ठ विशेषता यही है कि वे किसी भाव का चित्रण करते समय उसका स्पष्ट शब्दों में विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति का आश्रय प्राप्त कर उसकी ओर सूक्ष्म-संकेत कर देना मात्र ही उचित तथा आवश्यक समझते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि उनकी शैली सूक्ष्म तथा ध्वन्यात्मक ही है। इसी कारण उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर ध्वन्यात्मकता का दर्शन पाठक को होता है। किसी भाव का जिस रूप में मार्मिक-चित्रण किया जाना उनकी दृष्टि में आवश्यक रहा है, उतने ही रूप में उन्होंने उसे प्रस्तुत कर दिया है। उसकी व्यंजना को पूर्णरूपेण हृदयंगम कर लेना सहृदय व्यक्ति की सहृदयता पर ही निर्भर है। उनकी इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुये डा० ए० बी० कीथ ने अपनी पुस्तक 'संस्कृत-ड्रामा' में लिखा है—हिज (कालिदासज) लैंग्वेज हैज आल्सो दी मैरिट आफ सजेस्टिवनैस······। ही इज कन्टैन्ट टू इन्डिकेट बाई ए टच्' [अर्थात् कालिदास की भाषा में व्यंजना गुण विद्यमान है। वह केवल स्पर्शमात्र से निर्देश करके ही संतुष्ट हो जाता है।] श्री के० एस० रामास्वामी ने अपनी पुस्तक 'कालिदास' के द्वितीय भाग में लिखा है 'कालिदास वाज फैंस्टिडिअसली इकोनोमिकल इन दि यूज ऑफ वर्ड्स्' [अर्थात् शब्दों के प्रयोग में कालिदास अत्यन्त सजगता से मितव्ययी थे।]।

उनकी उपर्युक्त विशेषता का विश्लेषण रघुवंश के प्रस्तुत-सर्ग के दो-एक उद्धरणों द्वारा स्पष्ट कर देना अधिक उपयुक्त होगा :—

"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।"

अर्थात् सुदक्षिणा पतिव्रता स्त्रियों में अग्रगण्य थीं। नन्दिनी के मार्ग का [गाय के पदचिह्नों का] उसी प्रकार अनुसरण किया कि जिस प्रकार मनु आदि द्वारा रचित स्मृति-ग्रन्थ वेद के प्रतिपाद्य-विषय का अनुसरण किया करते हैं।

सुदक्षिणा पतिव्रता-स्त्रियों में अग्रगण्य थीं। नन्दिनी नामक महर्षि वशिष्ठ की गाय की सेवा का व्रत उन्होंने भी ले रखा था। उसकी सेवा में वे पूर्ण मनोयोग के साथ संलग्न थीं। वे जानती थीं कि वह गाय जिस स्थान पर अपने चरणों (खुरों) को रखती है उस स्थान की धूलि पूर्णतया पवित्र हो जाती है। अतएव उन्हीं चरणचिह्नों के ऊपर सुदक्षिणा भी अपने चरणों को डाल रही थीं तथा स्वयं भी उस पवित्र धूलि के स्पर्श से अपने को पवित्र होता हुआ समझ रही थीं।

स्मृतियों के लेखक याज्ञवल्क्य, मनु आदि सभी जानते थे कि वेद ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण हैं अथवा ईश्वरीय-ज्ञान ही हैं। अतएव उन्होंने अपनी स्मृतियों में जिन कर्तव्यों अथवा सिद्धान्तों का वर्णन किया है वे सभी कर्तव्य अथवा सिद्धान्त वेदों में वर्णित प्रतिपाद्य विषयों के अनुकूल ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्मृतिग्रन्थ वेदों में प्रतिपाद्य विदयों का ही प्रतिपादन करते है। अतः नेद-प्रतिपाद्य विषयों की पवित्रता के आधार पर ही स्मृति-ग्रन्थों की भी पवित्रता स्वीकार की जाती है। इसी भाँति नन्दिनी भी अत्यन्त पवित्र तथा पूजनीय थी—वह पृथ्वी की जिस धूलि पर अपने चरणों (खुरों) को रखती थी वह धूलि भी उसके स्पर्श को पाकर पवित्र हो जाती थी [जैसे कि वेदों की पवित्रता के साथ ही साथ उसके प्रतिपाद्य विषयो में भी पवित्रता आ जाया करती है]। फिर उसी धूलि में विद्यमान उन्हीं पद-चिह्नों पर अपने को पवित्र बनाने की धारणा से सुदक्षिणा भी पैर रखकर उस गाय का अनुगमन कर रही थी जैसे कि वेदों के प्रसिपाद्य-पवित्र विषयों के आधार पर लिखे गये स्मृति-ग्रन्थ भी पवित्र एवं माननीय हो जाया करते हैं।

इसी भाँति— "जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्।"

अर्थात् राजा दिलीप ने गोरूपधारिणी पृथ्वी के ही सदृश उस नन्दिनी नामक] गाय की रक्षा की।

'राजा का प्रधान कर्त्तव्य है पृथ्वी की रक्षा करना'। इसी कारण राजा को पृथ्वी का रक्षक कहा जाता हैं। यह पृथ्वी चारों ओर विद्यमान चार समुद्रों से घिरी हुई है। ऐसी पृथ्वी का रक्षक राजा होता है—आसमुद्रक्षितीशानाम्' रघु०-१/५॥ पृथ्वी अथवा पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणियों की सब प्रकार की आपत्तियों से रक्षा करना राजा का धर्म कहा गया है।

इसी भाँति गाय भी चार समुद्र-सदृश चार स्तनों से युक्त है। उसकी सेवा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व राजा पर है क्योंकि राजा गोसेवा-व्रत को धारण कर चुका है। जिस भाँति पृथ्वी की रक्षा का सम्पूर्ण भार अथवा उत्तरदायित्व राजा पर हुआ करता है उसी भाँति गोसेवा-व्रतधारी राजा [दिलीप पर ही गाय की सब प्रकार की रक्षा का भार अथवा उत्तरदायित्व निर्भर है। द्वितीय सर्ग का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजा ने अपना उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण निभाया है। यहाँ तक कि वह तो अपना बलिदान कर गाय की रक्षा के निमित्त उद्यत था। इसके लिये उसने सिंह से स्वीकृत भी प्राप्त कर ली थी और अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग कर वह औंधे मुँह होकर पृथ्वी पर स्थित हो गया तथा सिंह द्वारा अपने ऊपर कूदे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। जैसे पृथ्वी की रक्षा करने हेतु राजा को समय आने पर अपने प्राणों का बलिदान कर देना पड़ा करता है, उसी प्रकार वह गाय की रक्षा हेतु अपने प्राणों को उत्सर्ग करने के लिये भी सन्नद्ध था। इसी कारण गाय राजा दिलीप से अत्यधिक प्रसन्न हो गई थी।

अत. राजा ने यह कोई नया कार्य नहीं किया था। यह तो उसका दैनंदिन कार्य था। प्रतिदिन तो वह पृथ्वी की ही रक्षा किया करता था। यह गौ भी गोरूपधारिणी पृथ्वी ही थी। अतः व्रतधारी राजा द्वारा उसकी उसी भाँति रक्षा किया जाना परमावश्यक था।

इसी भाँति अन्य अनेक स्थलों पर महाकवि द्वारा अत्यन्त विशद भाव को अत्यन्त सूक्ष्म (संकेत रूप में ही) शब्दों के माध्यम से ही अभिव्यक्त किया गया है।

महाकवि कालिदास का काव्य-सौन्दर्य

"कविता का राज्य उसका सौन्दर्य हुआ करता है।" यह सौन्दर्य बाह्य-जगत् तथा अन्तर्जगत् दोनों में हुआ करता है। निस्सन्देह जो कवि केवल बाह्य-सौन्दर्य का ही वर्णन किया करते हैं, वह भी कवि की श्रेणी में आते हैं। किन्तु जो कवि मानवीय अन्तरुतल (मन) के सौन्दर्य का भी उत्कृष्ट रूप से वर्णन किया करते हैं उनकी गणना महाकवि की श्रेणी में की जाया करती है। यद्यपि बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य में एक निगूढ़ सम्बन्ध अवश्य है किन्तु फ़िर भी बाह्य-सौन्दर्य के वर्णन की अपेक्षा, आन्तरिक सौन्दर्य के वर्णन में कवि

की प्रतिभा का विकास अधिक सुन्दर रूप में हुआ करता है। दोनों प्रकार के सौन्दर्यों की तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बाह्य सौन्दर्य स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनशील है। वन, पर्वत, नदियाँ, आकाश आदि में स्थिरता, निष्प्राणता और अपरिवर्तनशीलता अधिक है किन्तु मानव-हृदय में उद्भूत घृणा भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाया करती है, अनुकम्पा से स्नेह की उत्पत्ति का होना सम्भव है, तथा प्रतिहिंसा की भावना से कृतज्ञता का भाव भी जागृत हो सकता है। जो कवि इस भाँति के परिवर्तन को अपनी कविता में चित्रित करने में समर्थ हुआ करता है तथा जो अन्तर्जगत् के विचित्र रहस्य को खोलकर जन-साधारण के समक्ष रखने में समर्थ हो पाता है उसके समक्ष मानसिक भावनायें तथा समस्यायें स्वयं ही सुलझकर उपस्थित हो जाया करती हैं। मानव के अन्तस् की गूढ़ातिगूढ़ जटिल समस्यायें उसके लिये स्वयं ही सरल हो जाया करती हैं और फिर वह अपनी कविता में उनका चित्रण अति सुन्दर रूप में कर सकता है।

महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य का चित्रण किया है। बाह्य सौन्दर्य सम्बन्धी उद्धरण 'महाकवि कालिदास का प्रकृति-चित्रण' शीर्षक विवरण के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं। आन्तरिक-भाव-सौन्दर्य के दो एक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं--

सीता के त्यागने की समस्या प्रस्तुत है। राम सीता की पवित्रता को भली-भाँति जानते हैं और उनका त्यागना भी उचित नहीं समझते हैं। साथ ही वे लोकमत की उपेक्षा भी करना नहीं चाहते हैं। उनका मन बड़े असमंजस में पड़ा है, वे सोच रहे हैं कि क्या करना चाहिये? नाना प्रकार के भाव उनके मानस को उद्वेलित कर रहे हैं:—

"किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे, भार्यामदोषामुतसंत्यजानि।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वा—दासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः॥
अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकप्रवादो बलवान् यतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनः कलंके—नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥
निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमाष्टुंमैच्छत्।
अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोधनानां हि यशो गरीयः॥"

रघु०—१०/३४-३६॥

निर्दोष होने पर भी सीता का त्याग किया गया। अतः स्वाभिमानी क्ति के सदृश सीता जी के हृदय में जो भाव उद्भूत हो रहे हैं उनका तना मार्मिक चित्रण कवि द्वारा किया गया है, देखिये:—

'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मा लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥

रघु०—१४/६१॥

अर्थात् [सीता राम के समीप सन्देश प्रेषित करती है कि मेरी ओर से ा राम से कहना—आग में मेरी परीक्षा भी आप द्वारा ली गई—मैं उसमें ुद्ध हुई। फिर भी केवल लोकापवाद के भय से आपने मेरा त्याग कर ा। क्या यह बात उनके प्रतिष्ठित कुल की मर्यादा के योग्य है?

रस—कालिदास रस-सिद्ध कवि हैं। उनकी कला पूर्णतया रसवादी । वे शृङ्गार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी अधिकांश रचनायें ृङ्गार-रस से ओत-प्रोत हैं। शृङ्गार-रस के संयोग एवं विप्रलम्भ (वियोग) ोनों पक्षों का सुन्दर पोषण इनकी कृतियों में हुआ है। इनके तीनों ही ाक शृङ्गार के विविध पक्षों के उत्तम उदाहरणों में भरे पड़े हैं। 'मेघदूत' य तो विप्रलम्भ शृङ्गार का अतुलनीय उदाहरण है। कुमारसम्भव का ्म सर्ग तो शिव-पार्वती के संयोग-शृङ्गार का अनुपम प्रतीक ही है। वस्तुतः ोमल-रसों के सफल चित्रकार हैं। गम्भीर रसों के प्रति उनकी रुचि ामात्रा में ही दृष्टिगोचर होती है। कुमारसंभव का (चतुर्थ सर्ग) रति-विलाप रघुवंश का अज विलाप (अष्टम सर्ग में) करुण-रस के निदर्शन हैं।

रघुवंश के प्रथम दो सर्गों में महाकवि ने प्रशान्त वातावरण की रचना है जिसमें ऋषि हैं, हरिण हैं, नन्दिनी गौ है और यदि उनके मध्य वीर- का प्रतीक सिंह आ भी गया तो वह मायाकृत सिंह ही था।

तृतीय, चतुर्थ, सप्तम तथा द्वादश सर्गों में युद्ध-वर्णनों के प्रसंगों में वीररस अनुभूति होती है। नवम् सर्ग में बसन्त-वर्णन में शृंगार-रस की अनुभूति रूप से होती है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पक-विमान द्वारा अयोध्या लौटते ... उक्तियों में शृङ्गारिकता का दर्शन होता है। सागर में नायक का

तथा नदियों में नायिकाओं का आरोप करते हुये महाकवि ने कैसा सु चित्रण प्रस्तुत किया है, देखिये—

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥ रघु०—१३/९

करुण रस सम्बन्धी एक उदाहरण देखिये। इसमें पत्नी के वियो महाराज अज की दशा का वर्णन है—

"विललाप स वाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवम् भजते कैव कथा शरीरिषु ॥"

रघु०—२८/४

भाव की पुष्टावस्था का ही नाम 'रस' है। जब वे भाव का चि करने में अद्वितीय स्थान रखते हैं तो फिर उसके अन्तर्गत रसात्मकता क जाना तो स्वाभाविक ही है।

अलंकार—कालिदास ने अलंकारों का भी प्रयोग अत्यन्त स्वाभावि के साथ किया है। उनकी रचनाओं में जिन अलङ्कारों का समावेश हुआ स्वतः ही उनकी रचना के प्रवाह में आ गये हैं। कवि ने कहीं भी उनको का प्रयास नहीं किया है। इसी कारण उनकी रचनाओं में कृत्रिमता भी आ सकी है। अलंकारों में भी अर्थालङ्कारों की अपेक्षा शब्दालङ्कारों की य में कृत्रिमता अवश्य आ जाया करती है। इनकी सभी रचनायें कृत्रिमता दोष से सर्वथा रहित हैं। इसी कारण इनकी रचनाओं में शब्दालङ्कार अपेक्षा अर्थालङ्कारों का प्रयोग अधिक हुआ है। यद्यपि रघुवंश में अनुप्रास की छटा का दर्शन अवश्य होता है किन्तु कवि ने इस अलङ्का लाने हेतु कोई प्रयास नहीं किया है। कवि द्वारा की गई भावाभिव्य उसका समावेश स्वतः ही हो गया है। इसके अतिरिक्त शब्दालङ्कारों में तथा श्लेष का प्रयोग भी स्वल्प मात्रा में ही दृष्टिगोचर होता है। स्व समष्टि अनुप्रास के कुछ प्रयोग दर्शनीय हैं—

"यशोधनो धेनुम" (२/१॥), "पवित्रपांसुलानाम्" (२/२) " दयालुः" (२/३॥), "स्निग्धः स्थिताम् तथा "जलाभिलाषी जलमाद (२/६॥), "पार्श्वद्रुमाः पाशभृता" (२/९।), "मरुत्प्रमुक्ताश्च मरुत्स (२/१०॥), "समातपक्लान्तनातपत्रम्" (२/१३॥)

ाहमाने" (२/१४), "प्रभा पतङ्गस्य" (२/१५), "महिष्या महनीयकीर्तेः" था "दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य" (२/२५), "गौरीगुरोगह्वरम्" २/२६), "वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः" (२/३०), "मनुष्यवाचामनुवंश-तुम्" (३३), "भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे, भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज" २/७४ त्यादि द्वितीयसर्गान्तर्गत विद्यमान उदाहरण ही इस बात के उदाहरण हैं कि ालिदास की भाषा स्वभावतः सरस एवं अनुप्रासमयी है।

अर्थालङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त आदि अलङ्कारों प्रयोग में उनकी व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। उनका सर्वाधिक प्रिय लङ्कार उपमा है। वे अपनी उपमाओं के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। किसी ाघ-कवि के प्रशंसक ने कहा भी है :—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिमः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥"

यह लिखकर उपमा के प्रयोग में उन्हें सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किया गया । निस्सन्देह उपमा के प्रयोग में वे सर्वश्रेष्ठ हैं। किन्तु उपमा का प्रयोग ही नको विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थान प्रदान करता हो, ऐसा नहीं है। नकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी सम्विधान-कुशलता, रस-योजना, ावाभिव्यञ्जना, ध्वन्यात्मक एवं प्रसादगुणपूर्ण शैली भी अद्वितीय तथा नुपमेय है।

उनकी उपमायें अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। नकी अधिकांश उपमायें सर्वांश में घटती हैं। दो-एक उदाहरण देखिये :—

अरुणवर्णा नन्दिनी नामक गाय राजा दिलीप तथा सुदक्षिणा के बीच स्थित उसी प्रकार से शोभा प्राप्त कर रही थी कि जिस प्रकार दिन और ात के बीच में अरुणवर्णा संध्या सुशोभित हुआ करती है :—

तदन्तरे सा विरराज धेनुः।
दिनक्षपामध्यगतेव संध्या॥२/२०॥

यहाँ अरुणवर्णा गाय, अरुणवर्णा संध्या, राजा दिलीप दिन तथा सुदक्षिणा ात्रि के समान हैं। अतः यहाँ सर्वांश में पूर्णोपमा अलङ्कार है।

वन में राजा दिलीप के ऊपर छोटी-छोटी लताओं ने पुष्पों की वर्षा की। यह पुष्पवृष्टि ऐसी प्रतीत हो रही थी कि जैसे नगरवासियों की कन्या मङ्गल के निमित्त धान के लावों की वर्षा किया करती हैं :—

अवाकिरन् बाललताः प्रसूनं ।
राचारलाजैरिव पारकन्याः ॥२/१०॥

इसी प्रकार उनका उपमा सम्बन्धी लालित्य एवं माधुर्य द्वितीय सर्ग श्लोक सं० २, ६, १६, २६, ३२, ३७, ३६, ४२, ७३ में देखा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त उनकी सर्वश्रेष्ठ उपमा तो हमें इन्दुमति-स्वयंवर-प्रसंग में उपलब्ध होती है कि जहाँ पर इन्दुमती अपने स्वयंवर में जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती थी उस-उस राजा के मुख पर निराशा की कालिमा उसी प्रकार छा जाती थी कि जिस प्रकार राजपथ पर स्थित अट्टालिकायें जिन्हें रात्रि के समय आगे बढ़ती हुई दीपशिखा पीछे छोड़ दिया करती है। उस समय पीछे छुटी हुई अट्टालिकायें अन्धकार से आवृत हो जाने के कारण कृष्णवर्णा ही दिखलायी पड़ा करती हैं :—

"संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ ।
यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे ।
विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ रघु० ६/३७ ॥"

सर्वांश में घटित होने वाली इस उपमा का लालित्य ही अनूठा है। साधारण व्यक्ति की कल्पना में तो इस प्रकार के उपमा तक पहुंच सकना भी सम्भव प्रतीत नहीं होता है। इसी आधार पर महाकवि को 'दीपशिखा' भी कहा जाने लगा था।

इस भाँति महाकवि कालिदास की कृतियाँ विभिन्न प्रकार की उपमाओं का भण्डार ही कही जा सकती हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास ने 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार का प्रयोग उपमा की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्टता के साथ किया है। किसी कवि की उनके विषय में उक्ति है :—

"उपमा कालिदास नोत्कृष्टेति मतं मम ।
अर्थान्तर विन्यासे कालिदासो विशिष्यते ॥"

इस भाँति इनके द्वारा कालिदास को 'अर्थान्तरन्यास' के प्रयोग में सर्वोत्कृष्ट स्वीकार किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि उनके द्वारा प्रयुक्त अर्थान्तरन्यास सुभाषित के रूप में प्रचलित हैं। उनके सुभाषितों मे से कुछ प्रमुख सुभाषितों का उल्लेख इसी भूमिका में आगे किया जायेगा। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रायः सभी सुभाषित 'अर्थान्तरन्यास' में उदाहरण के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं। फिर भी द्वितीय सर्ग में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यास के कुछ उदाहरण दे देना उपयुक्त ही होगा—

"न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः" ॥२/४॥
"प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि" ॥२/२२॥
"न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य" ॥२/३४॥
"शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति" ॥२/४२॥

इसी भाँति 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार का भी प्रयोग उनकी रचनाओं मे पर्याप्त रूप से हुआ है। द्वितीय सर्ग में ही अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। पाठक यथ स्थान देख लेने का कष्ट करेंगे। इसके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में दृष्टान्त, काव्यलिङ्ग, तुल्ययोगिता, रूपक, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी प्रयोग यथास्थान उपलब्ध होता है।

प्रकृति-चित्रण

महाकवि कालिदास ने प्रकृति को मानव-जीवन से सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं माना है। उनके अनुसार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। उन्हें मानव-जीवन में प्रकृति का और प्रकृति में मानव-जीवन का दर्शन प्राप्त होता है। उनकी रचना 'रघुवंश' में तो प्रकृति-जीवन का मनुष्य के व्यक्तिगत-जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। राजा दिलीप को वन में जय-ध्वनि करने वाले सेवकों से रहित देखकर समीपस्थ वृक्ष ही मानों (उन पर बैठे हुए) पक्षियों की ध्वनियों के माध्यम से राजा की जयकार कर रहे थे :—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य
पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदाना-
मालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ रघु० २/९॥"

राजा का स्वागत करती हुई वन की लतायें नागरिक-कन्याओं की भूमिका निभा रही थीं :—

"अवाकिरन् बाललता प्रसूनैः
आचारलाजैरिव पौरकन्याः" ।। रघु० २/१०।।

हरिणियों ने भी दयालु राजा के सुन्दर शरीर को देखकर अपने नेत्रों की विशालता का पूर्ण फल ही मानों प्राप्त कर लिया था :—

"विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां
प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ।। रघु० २/११"

अतः महाकवि की दृष्टि में प्रकृति एक मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण वस्तु नहीं है । मानव प्राणियों की ही भाँति उसमें भी सुख-दुःख समवेदना का भाव दृष्टिगोचर होता है । जिस प्रकार चेतन-जगत् के लोग परस्पर प्रेम के कारण सुख-दुःख में एक-दूसरे की सहायता किया करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी करती है । जब वन में राजा दिलीप छत्र-रहित दशा में 'गाय के पीछे-पीछे घूम रहे थे तो उस समय राजा धूप से पीड़ित हो गये थे । उनका शरीर पसीने से आर्द्र हो रहा था । राजा की ऐसी दशा को देखकर वन की वायु भी अपने को शान्त न रख सकी और उसने भी अपनी शीतलता के साथ राजा की सेव की' :—

"समातपक्लान्तमनातपत्र-
माचारपूतं पवनः सिषेवे ।। रघु० २/१३" ।।

इस प्रकार राजा द्वारा वन में प्रवेश किये जाने पर वन्य पदार्थों और जन्तुओं पर उनका विशिष्ट प्रभाव हुआ और परिणामस्वरूप—

"शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्नि
रासीद् विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्वेष्वधिको बबाधे
तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने" ।। रघु० २/१४ ।।"

उन्होंने प्रकृति के आलम्बन तथा उद्दीपन दोनों ही रूपों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है । कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग तथा रघुवंश के

द्वितीय सर्ग का हिमालय-वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप में अंकित है तथा उद्दीपन रूप के लिये उनका 'ऋतुसंहार' ही एक अच्छा उदाहरण है। इन वर्णनों में प्रकृति का स्वाभाविक-सौन्दर्य दर्शनीय है।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग का पूरा कथानक प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में ही घटित हुआ है। प्राकृतिक दृश्यों की दृष्टि से निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है :—

"सपल्लवलोत्तीर्णवराहयूथानि,
आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि,
श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ।। रघु० १/७।।"

उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अन्तः-प्रकृति का चित्रण करने में जितने दक्ष थे उतने ही बाह्य प्रकृति का चित्रण करने में भी। उन्होंने प्रकृति के दोनों रूपों का दर्शन स्वयं अपने उन्मीलित नेत्रों से किया था। प्रकृति-चित्रण में उन्होंने सर्वत्र अपने अनुभव-जन्य ज्ञान का ही उपयोग किया है। इसी कारण प्रकृति-चित्रण में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनकी प्रत्येक रचना प्रकृति-वर्णनों से युक्त है। यह दूसरी बात है कि किसी ग्रन्थ में इसकी मात्रा अत्यधिक रही हो और किसी में कम। इनका 'मेघदूत' तो प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से सर्वोत्तम ग्रन्थ है। 'पूर्वमेघ' बाह्य प्रकृति वर्णनों से युक्त होने पर भी मानवीय भावनाओं से ओतप्रोत है। 'उत्तरमेघ' मानव हृदय का चित्र होते हुये भी प्राकृतिक सौन्दर्य के आवरण से परिपूर्ण है।

रघुवंश महाकाव्य में प्रयुक्त छन्द—रघुवंश महाकाव्य में अनेक छन्दों का इस विविधता से प्रयुक्त करने से भी महाकवि की विद्वत्ता एवं पाण्डित्य प्रकट होता है। इस महाकाव्य के सर्गों में अनुष्टुभ, प्रहर्षिणी, उपजाति, मालिनी, वंशस्थ, हरिणी, बसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, वैतालीय, तोटक, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शालिनी, औपच्छन्दसिक, रथोद्धता, स्वागता, मत्तमयूर, नाराच नामक छन्द प्रयुक्त हुये हैं। इन छन्द नामों के देखने से यह भी विदित होता है कि कालिदास ने कुछ अप्रचलित छन्दों का प्रयोग भी किया है।

उन्होंने करुण प्रसंगों में 'वैतालीय' नामक छन्द का प्रयोग तथा वर्षा-वर्णन में मन्दाक्रान्ता नामक छन्द का, हर्ष के वातावरण में प्रहर्षिणी नामक छन्द का, पराक्रम सम्बन्धी वर्णनों में वंशस्थ नामक छन्द का तथा पौराणिक वृत्तों के संक्षिप्त वर्णनों में अनुष्टुभ जैसे छन्द का प्रयोग किया है ।

प्रस्तुत सर्ग में प्रथम श्लोक से लेकर ७४ वें श्लोक तक 'उपजाति' नामक छन्द प्रयुक्त हुआ है । अन्तिम अर्थात् ७५ वें श्लोक में 'मालिनी' नामक छन्द है । इन दोनों छन्दों की परिभाषा प्रथम तथा अन्तिम श्लोकों की व्याख्या के साथ लिखी गई है । उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण भी वहाँ सोदाहरण रूप में कर दिया गया है ।

राजा दिलीप और सिंह का संवाद—प्रबन्ध-काव्यों में काव्य सौष्ठवता लाने के लिये संवादात्मकता का होना परमावश्यक हुआ करता है । अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की वार्तालाप करने की अपनी एक प्रणाली हुआ करती है, वही उसके चरित्र की मानदण्ड बन जाया करती है । इसी भाँति काव्य के पात्रों के बीच हुआ पारस्परिक वार्त्तालाप अथवा कथोपकथन भी उनके चरित्र और उनके क्रिया-कलापों को जानने में सहायक हुआ करता है । मानव की मानसिक विचारधाराओं और भावों का ज्ञान उसके वार्त्तालाप से ही लग जाया करता है । उसकी सब प्रकार की वृत्तियों तथा भावनाओं का विकार कथोपकथनों अथवा सम्वादों पर ही आधारित हुआ करता है । महाकवि कालिदास के महाकाव्यों में दो सम्वाद अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं—(१) रघुवंश महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में सिंह एवं दिलीप का सम्वाद, (२) कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में विद्यमान शिव एवं पार्वती का सम्वाद । इस स्थल पर रघुवंश के द्वितीय सर्ग में विद्यमान सिंह एवं राजा दिलीप के सम्वाद को स्पष्ट कर देना उपयुक्त ही होगा :—

गाय नन्दिनी, राजा दिलीप की अपने प्रति भक्ति तथा सच्ची सेवा की परीक्षा लेनी चाहती थी । अतएव वह २२ वें दिन चरते-चरते हिमालय की एक गुफा में प्रविष्ट हो गई तथा उसने माया सिंह बनाकर उससे अपने ऊपर आक्रमण भी करा लिया ।

उस समय राजा पर्वतीय शोभा का अवलोकन करने में संलग्न था क्योंकि उसे विश्वास था कि कोई भी हिंसक जन्तु मन से भी गाय पर आक्रमण करने का विचार भी नहीं कर सकता है। इसी बीच सिंह ने आक्रमण कर गाय को दबा लिया। उसके आर्त्तनाद को सुनकर जैसे ही राजा ने अपनी दृष्टि उस ओर की, वैसे ही उसने गाय को आक्रान्त किये हुए एक सिंह को देखा। प्रतापी राजा ने तुरन्त ही अपने तूणीर (तरकश) से बाण निकालना चाहा किन्तु उसका हाथ बाण के अग्रभाग पर ही चिपक कर रह गया। यह देखकर राजा आश्चर्यान्वित हो गया और वह अपनी इस असहाय दशा पर मन ही मन क्रोधाग्नि में जलने लगा। उसको आश्चर्य में पड़ा हुआ देखकर सिंह ने मानव वाणी में राजा से कहा—"आप मुझको मारने का साहस न कीजिये क्योंकि आप मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। मैं भगवान् शिव का अनुचर हूँ तथा मेरा नाम कुम्भोदर है। आप अपने इस देवदारु के वृक्ष को देख रहे हैं। इसका पालन-पोषण पार्वती द्वारा अपने पुत्र के समान ही किया गया है। एक बार एक जंगली हाथी ने अपने गण्डस्थल को खुजलाते हुये इस वृक्ष की छाल को उखाड़ दिया था। यह ज्ञात होने पर पार्वती को पुत्रवत् कष्ट हुआ था। उसी समय से शिवजी ने मुझे सिंह बनाकर इस वृक्ष की रक्षा के निमित्त नियुक्त कर दिया और यह भी कहा कि जो भी वन्य जन्तु उस गुफा में आयेगा वही तुम्हारी जीविका होगा। अतः जो कोई पशु स्वेच्छा से यहाँ आ जाता है। वही मेरा भोजन बनता है। आज यह गाय स्वयं ही यहाँ आ गई है। अतः यही मेरा भोजन बनेगी। गुरु वसिष्ठ के प्रति दिखलाई गई आपकी भक्ति पूर्ण हो चुकी है। आपने अपना कर्त्तव्य पूर्णरूप से निभाया। अब आप कुछ भी कर सकने में असमर्थ हैं। यदि रक्षा करने योग्य गाय नन्दिनी की आप इस समय अपने शस्त्र द्वारा भी रक्षा नहीं कर पा रहे हैं, तो इससे शस्त्रधारी आपकी कीर्ति नष्ट नहीं होगी। यदि शस्त्र के द्वारा भी रक्षक व्यक्ति किसी वस्तु की रक्षा में असमर्थ हो जाता है, तो इससे शस्त्रधारियों का यश कदापि क्षीण नहीं हुआ करता है। अतः अब आपका वसिष्ठ आश्रम को लौट जाना ही उचित है।"

सिंह द्वारा कथित उपर्युक्त धृष्ट वचनों का श्रवण कर राजा दिलीप अत्यन्त

दुःखी हुये। शिव के प्रताप से उत्पन्न हुई अपनी असमर्थता को समझकर उन्होंने कुम्भोदर नामक सिंह को उत्तर देते हुये कहा :—

"भगवान् शिव मेरे पूज्य तथा मान्य हैं। साथ ही गुरु की इस गाय की रक्षा करना भी तो मेरा कर्त्तव्य है। अतः इसकी भी मेरे द्वारा उपेक्षा किया जाना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में एक ही ऐसा उपाय है कि जिसके द्वारा आपकी भूख भी शान्त हो जायेगी और गाय की रक्षा भी हो जायेगी और वह उपाय यह है कि आप मेरे शरीर को खाकर अपनी भूख शान्त कर लीजिये तथा इस गाय को छोड़ दीजिये।

राजा के इस कथन को सुनकर सिंह ने मुस्कराहट के साथ राजा दिलीप से कहा—"हे राजन्! तुम्हारे पास संसार का एकच्छत्र साम्राज्य है, अभी तुम्हारी युवावस्था है और यह तुम्हारा सुन्दर शरीर है—इन सभी बहुमूल्य पदार्थों को तुम केवल एक गाय जैसी तुच्छ वस्तु के लिये छोड़ देना चाहते हो। इससे प्रतीत होता है कि तुम पूर्णतया विवेकशून्य हो तथा तुमको उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं है। एक तुच्छ पदार्थ की रक्षा के निमित्त इतना बड़ा त्याग करना बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

यदि आप प्राणियों के प्रति दयालु हैं और इसी आधार पर आप अपना प्राणोत्सर्ग कर इस गाय की रक्षा करना चाहते हैं तो भी आप द्वारा ऐसा किया जाना उचित नहीं है, क्योंकि आपके मर जाने के पश्चात् केवल इस एक गाय की रक्षा हो सकेगी किन्तु यदि आप जीवन धारण किये रहे तो आप असंख्य प्राणियों की (अथवा सम्पूर्ण जनता की) रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। प्रजापालक होने के नाते प्रजाओं की रक्षा करना आपका परमकर्त्तव्य है। अतः एकमात्र गाय के लिये अपने जीवन को नष्ट न कर असंख्य प्राणियों की रक्षा करने हेतु अपने जीवन का सदुपयोग कीजिये।

यदि आप यह समझकर कि आपके गुरु वसिष्ठ अत्यधिक तेज सम्पन्न होने के कारण भस्म कर देने की क्षमता रखते हैं, अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की सोच रहे हैं तो इसका समाधान तो आप सरलतापूर्वक कर सकते हैं।

आप इस एक गाय के बदले में करोड़ों की संख्या में अत्यधिक दूध देने वाली गायें उन्हें देकर उनका क्रोध शान्त कर सकते हैं। अतः इस तुच्छ गाय के लिये जीवन देना उचित नहीं है।"

गाय की दशा अत्यधिक शोचनीय हो रही थी। सिंह के आक्रमण के कारण वह अत्यन्त भयभीत हो गयी थी। अतएव वह राजा की ओर अत्यन्त आशाभरी दृष्टि से देख रही थी। राजा तो स्वभावतः दयालु थे ही गाय की उपर्युक्त अवस्था को देखकर उनका हृदय और भी अधिक दया से परिपूर्ण हो गया था। अतः अपना जीवन देकर गाय की रक्षा किये जाने को ही वह श्रेयस्कर समझ रहा था। अतएव राजा ने सिंह से कहा —"क्षत्रिय-वर्ण का वाचक जो "क्षत्र" शब्द है वह 'विनाश से बचाने वाले" अर्थ में लोक में प्रसिद्ध है। अर्थात् जो दूसरों को, अन्य प्राणियों को अथवा प्रजा को (राजा के पक्ष में) विनाश अथवा नष्ट होने से बचाता है, वही क्षत्रिय कहलाता है। अतः मुझ जैसे कर्त्तव्य-हीन क्षत्रिय राजा के राज्य से अथवा प्राणों से क्या लाभ कि जो अपनी आँखों के समक्ष प्राणियों को नष्ट होते हुये देखता रहे और उनकी रक्षा भी न कर सके। अतः मेरा मर जाना श्रेयस्कर है, अतएव आप मेरे शरीर से अपनी क्षुधा शान्त कर लीजिये और इस गाय को छोड़ दीजिये।

अन्य दुग्धवती साधारण गायों के देने से मुनि वसिष्ठ का क्रोध किसी भी दशा में शान्त किया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि यह गाय साधारण गाय नहीं है। इसे आप कामधेनु से कम न समझिये।

हे सिंह ! परतन्त्र आप भी हैं और मैं भी हूं। आपको अपने स्वामी भगवान् शिव के आदेश का पालन करने हेतु इस देवदारु वृक्ष की यत्नपूर्वक रक्षा करनी है तथा मुझे भी अपने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा-पालन हेतु इस गाय की रक्षा करनी है। इस भाँति हम दोनों ही परतन्त्र हैं। परतन्त्र व्यक्ति का उत्तरदायित्व क्या होता है इसे हम और आप भली-भाँति समझते हैं ? इसी कारण आप इस वृक्ष की रक्षा करने में संलग्न हैं तथा मैं इस गाय की रक्षा करने में। रक्षणीय वस्तु का विनाश कराकर स्वयं सुरक्षित रहते हुये कोई

भी सेवक अपने स्वामी के समक्ष जाने में कभी समर्थ नहीं हो सकता है। अतः इस रक्षणीय गाय के स्थान पर आप मुझे ही खालें। ऐसा करने से हम दोनों ही व्यक्तियों के कर्तव्यों का यथोचित रूप से पालन हो जायेगा।

यदि आप मेरे इस पंचतत्वनिर्मित नश्वर शरीर पर ही कुछ दया दिखलाने की इच्छा रखते हों तो आप मेरे यश रूपी शरीर की ही रक्षा कीजिये, क्योंकि मुझ जैसे क्षत्रिय अथवा राजा लोग इस पाँचभौतिक नश्वर शरीर की अपेक्षा न कर अपने यशरूपी शरीर की ही अपेक्षा किया करते हैं। परस्पर वार्तालाप के करने से हम दोनों के बीच मैत्री भी उत्पन्न हो चुकी है। अतः अब आप मित्रता के नाते मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर इस गाय के बदले मेरे शरीर को पाकर अपनी भूख शान्त कर लें और इस गाय को मुक्त कर दें।

राजा द्वारा उपर्युक्त बात के लिये ही बार-बार अनुरोध किये जाने पर सिंह ने कहा—"तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही हो"। ऐसा कहते ही राजा का हाथ बन्धन-मुक्त हो गया। तदनन्तर राजा ने अपने अस्त्र-शस्त्रों को पृथक् रख दिया और स्वयं सिंह के समक्ष मांस के पिण्ड के सदृश स्थित होकर आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा [उक्त सम्वाद की समाप्ति यहीं पर हो जाती है।] इसी बीच उनके ऊपर आकाश से पुष्प-वर्षा होने लगी। नन्दिनी ने उनसे उठने को कहा। राजा उठा और उसने वहाँ केवल प्रस्तुतस्तनी गाय को ही देखा।

चरित्र-चित्रण—महाकवि कालिदास चरित्र-चित्रण में अत्यन्त कुशल हैं। उनका चरित्र-चित्रण आदर्शोन्मुख होते हुये भी पूर्णतया सजीव तथा स्वाभाविक है। उनका प्रत्येक पात्र अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है, साथ ही कुछ प्रमुख विशेषतायें भी। उनका विकास एक व्यवस्थित क्रम के साथ हुआ। इस चरित्र-चित्रणों के आधार पर महाकवि का मानवप्रकृति सम्बन्धी सूक्ष्म निरीक्षण का ज्ञान हमें प्राप्त होता है।

राजा दिलीप का चरित्र-चित्रण—प्रस्तुत सर्ग में राजा दिलीप का चरित्र-चित्रण पूर्णतया प्रकाश में आ गया है। राजा दिलीप सच्चे गौ-सेवक तथा गुरु द्वारा बतलाये गये व्रत का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करने वाले हैं (२/३, ५

६, १६, २३—२५) । वे अत्यन्त दयालु, कारुणिक तथा प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव रखने वाले हैं :—

"निवर्त्य राजा दयितां दयालु." । रघु० १/३।।

इसी कारण धनुष को धारण किये हुये होने पर भी राजा के हृद्‌गत भाव की अनुभूति हरिणियों को हो गयी थी और वे राजा को निस्तब्धता के साथ भयरहित होकर देख रही थीं :—

"धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभाव-
मख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां
प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ।।रघु० २/११।।"

वे एक अत्यन्त पराक्रमी, शूरवीर, स्वावलम्बी, कष्टसहिष्णु तथा तेजस्वी क्षत्रिय राजा हैं । गौ-सेवा व्रत में संलग्न हो जाने पर उन्होंने अपने पीछे-पीछे चलने वाले सभी अनुचरों को वापिस कर दिया था । उन्हें वन में अपनी रक्षा के निमित्त किसी दूसरे की आवश्यकता न थी । वे अपने पराक्रम से ही अपनी रक्षा करने में समर्थ थे :—

व्रताय तेनानुचरेण धेनो-
र्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा
स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ।। रघु० २/४।।"

"आसीद्वनाविष्कृतदानराजि-
रन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ।।

वे अत्यन्त प्रभावशाली तथा भाग्यशाली भी हैं । उनके प्रभाव के ही कारण जड़ पदार्थ तथा वनदेवता भी उनका स्वागत कर रहे थे ।

(२'८–८–१४) ।

गुरु वसिष्ठ के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है, वे उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करने में सतत संलग्न हैं । वे अपने अपमान अथवा पराभव को सहन न कर सकने वाले एक मानधन व्यक्ति हैं [२/३०] तथा—

"राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तः" ।। रघु २/३२ ।।

वे अपने पक्ष का युक्तियुक्त समर्थन में पूर्णतया कुशल हैं (२/४३-४५ तथा ५३-५६)। उनकी युक्तियाँ भी उनकी सुशीलता तथा विनम्रता की द्योतक हैं। शब्द के वास्तविक अर्थ में वे क्षत्रिय राजा हैं:—

"क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥२/५३॥"

वे अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये अपने शरीर का बलिदान करने में भी संकोच नहीं करते हैं। गाय की रक्षा करना उनका महान् कर्त्तव्य था। इसका व्रत वे ले चुके थे। अतः उससे डिगना उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल न था। उन्होंने सिंह से कहा—कि "तुम मुझे खालो तथा गाय को छोड़ दो"। (रघु० २:४५)। साधारण पुरुषों की भाँति उन्हें अपने पञ्च भौतिक शरीर के प्रति न तो किसी प्रकार का मोह ही है और न चिन्ता। वे पञ्चतत्वनिर्मित शरीर की अपेक्षा अपने यशःशरीर के लिये ही पूर्णरूपेण चिन्तित हैं—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं"
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ २/५७॥"

वे अपने वंश की प्रतिष्ठा हेतु अत्यधिक चिन्तित हैं। इसी कारण गुरु की आज्ञा से वास्तविक एवं सच्चे रूप से गौ-सेवा-व्रत में संलग्न हैं। गाय द्वारा उनकी परीक्षा लिये जाने पर भी वे खरे ही उतरते हैं तथा उसी के परिणाम-स्वरूप वे गाय नन्दिनी से अपने मनोनुकूल वरदान भी प्राप्त करते हैं। [रघु० २/६३-६५]। नन्दिनी द्वारा दुग्धपान के लिये आज्ञा दे दिये जाने पर भी वे बछड़े के पीने तथा होम विधि से बचे हुये दुग्ध को गुरु की आज्ञा से ही पीने के अभिलाषी हैं। [रघु० २/६६॥]।

उनके चरित्र की उदात्तता से सम्पूर्ण द्वितीय सर्ग ही व्याप्त है। वे एक सत्यनिष्ठ महापुरुष हैं।

अन्त में सारांशरूप में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वे एक भारतीय-संस्कृति के सच्चे अनुयायी तथा धार्मिक क्षत्रिय राजा के प्रतीक हैं।

महाकवि कालिदास की सर्वोत्कृष्टता तथा महानता

महाकवि कालिदास सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कलाकार तो हैं ही, यदि उन्हें समग्र विश्व-साहित्य का भी सर्वोन्नत कलाकार कह दिया जाय तो यह अनुपयुक्त न होगा। उनकी समानता आंग्ल-भाषा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ एवं सफल कलाकार शैक्सपियर से की जाती है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि शैक्सपियर एक योग्य नाटककार अवश्य थे, महाकवि नहीं। उन्होंने किसी भी महाकाव्य की रचना नहीं की है। कालिदास ने तो नाटकों के अतिरिक्त दो महाकाव्यों की रचना की है—(१) रघुवंश और (२) कुमार-संभव। अतः इस दृष्टि से महाकवि कालिदास का शैक्सपियर से कहीं अधिक आगे निकल जाना स्वाभाविक ही है। काव्य-मर्मज्ञों द्वारा उनको दी गयी महाकवि की उपाधि नितान्त सत्य है। कोमलकान्त पदावली, प्रसादगुणयुक्त भाषा, भावगाम्भीर्य, शैली की मौलिकता, कल्पनाओं की उदात्तता, अलङ्कारों की स्वाभाविकता तथा रसों का पूर्ण परिपाक आदि समस्त उत्कृष्टतम गुणों ने एकत्र होकर कालिदास की रचना में एक ऐसा आकर्षण तथा रोचकता को उत्पन्न कर दिया है कि पाठक अथवा श्रोता उनके रसास्वादन से मोहित होकर अपने को ही भूल जाता है तथा आनन्द-विभोर हो उठता है। विश्व-प्रसिद्ध जर्मन कवि "गेटे" उनके "अभिज्ञानशाकुन्तल" के अनुवादमात्र का अध्ययन कर आनन्द-विभोर हो गये और उन्हें उक्त ग्रन्थ की अपूर्व प्रशंसा करते हुये यह कहना ही पड़ा :—

Wouldst thou see spring's blossoms and the fruits of its decline.

Wouldst thou see by what the souls enraptured, feasted, fed.

Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine.

I name Thee Oh Sakuntala : and all at once is said"

अर्थात् प्रिय मित्र ! यदि तुम बसन्त और वर्षा ऋतु के फूलों-फलों का तथा मन को प्रसन्न करने वाले रसायन और स्वर्गलोक और भूलोक के ऐश्वर्य को एक साथ देखना चाहते हो तो 'शाकुन्तल' का सेवन करो ।

अमेरिका के "राइडर" नामक विद्वान् ने कालिदास की श्रेष्ठता को अनेक प्रकार से स्थापित करते हुए यही कहा है कि :—

We know that Kalidas was a great poet because the world has not been able to leave him alone.

अर्थात् कालिदास के बिना सम्कृत साहित्य का अध्ययन ही नहीं हो सकता है । हम कालिदास को छोड़ नहीं सकते तथा छोड़कर सन्तोष नहीं पा सकते ।

कालिदास की कला की यह एक महान् विशेषता है कि वह समाज के लिये है केवल कला के लिये नहीं । इनकी कला में समाज के जीवन की सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तथा राग-विराग की गम्भीर तथा साधारण, सभी प्रकार की भावनाओं का समावेश हुआ है । वे इस प्रकार के कलाकार हैं कि जिन्होंने अपने युग की चेतना को अपनी कला में मुखरित किया है । वे वस्तुतः प्राच्य-भारतीय-संस्कृति के प्रतिनिधि-कवि हैं । उनके पात्र भारतीयता की सजीव-मूर्ति हैं । उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से तत्कालीन सामाजिक सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान पाठक को सहज ही प्राप्त हो जाता है । उनकी काव्य-शैली का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए डा० ए० बी० कीथ ने लिखा है—"कालिदास निस्संदेह भारतीय-काव्यशैली के सर्वोत्तम आचार्य हैं ।"

महाकवि बाण ने अपने हर्षचरित में महाकवि कालिदास की कविता की प्रशंसा करते हुये लिखा है—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिमधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥"

अर्थात् नवीन विकसित मञ्जरियों के सदृश मधुर एवं सरस कालिदास की सूक्तियों में उच्चारण मात्र से ही किसे आनन्द की अनुभूति नहीं होती है ?

टीकाकार मल्लिनाथ ने तो कालिदास की कला के बारे में यहाँ तक लिख डाला—

"कालिदासगिरां सारं कालिदाससरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥"

अर्थात् कालिदास की वाणी के सार को आज तक केवल तीन व्यक्तियों ने ही समझा है, एक तो विधाता (ब्रह्मा), दूसरी वाग्देवी सरस्वती और तीसरे कालिदास स्वयं । मेरे समान अल्पज्ञ पुरुष उनको ठीक-ठीक समझ सकने में सर्वथा असमर्थ हैं ।

कालिदास का सन्देश—उनकी रचनाओं में विद्यमान एकमात्र यही सन्देश उपलब्ध होता है कि त्याग, तपस्या और तपोमय जीवन द्वारा ही मनुष्य अपने वास्तविक कल्याण की प्राप्ति कर सकता है । उनका यह सन्देश तीन तकारादि शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता है । 'त्याग, तपस्या, तपोवन' । तपोवन में पली सभ्यता के द्वारा ही जनसाधारण का वास्तविक कल्याण हो सकता है । क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग द्वारा ही होना सम्भव है तथा सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर ही की जा सकती है । मानव-योनि में जन्म लेकर सांसारिक विषयों का दास बन जाना मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं है । आध्यात्मिक जीवन में ही सच्ची आत्मा का दर्शन सुलभ है तथा उसी के द्वारा निःश्रेयस (मोक्ष अथवा वास्तविक कल्याण) को प्राप्त किया जाना भी सम्भव है ।

महाकवि कालिदास प्रणीतम्

रघुवंशमहाकाव्यम्

(द्वितीयःसर्गः)

सन्दर्भ--महाराज दिलीप के कोई पुत्र न था। अतएव वे अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ कुलगुरु, महर्षि वसिष्ठ के समीप उनके आश्रम में गये और उनसे निवेदन किया—"गुरुदेव! बिना पुत्र के मेरा सम्पूर्ण राज्य तथा सर्वसुख मुझे निरर्थक ही प्रतीत होते हैं। पितरों का भार मेरे सिर पर चढ़ रहा है। आप कोई ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे मुझे पुत्र-रत्न की उपलब्धि हो सके।"

यह सुनकर महर्षि वसिष्ठ कुछ समय के लिये ध्यानावस्थित हो गये। योगबल से उन्होंने राजा के पुत्र न होने का कारण जान लिया वे बोले—

राजन्! सम्भवतः आपको स्मरण ही होगा कि एक बार जब आप इन्द्र की सेवा कर पत्नीसहित पृथ्वी की ओर वापिस आ रहे थे तब मार्ग में कल्पवृक्ष के नीचे कामधेनु विराजमान थी। आपने उसकी ओर देखा तक नहीं, क्योंकि आपका ध्यान उस समय अपनी पत्नी की ओर था। इसी कारण कामधेनु आपसे रुष्ट हो गई और उसने आपको शाप दे दिया कि जब तक तुम उसकी सन्तान की सेवा नहीं करोगे तब तक तुमको पुत्र की प्राप्ति नहीं होगी।

आकाश में व्याप्त कोलाहल के कारण आप इसे सुन नहीं सके। इस समय कामधेनु तो पाताल में चली गई है, किन्तु उसकी सन्तान नन्दिनी हमारे इसी आश्रम में विद्यमान है। पवित्र मन से, पत्नीसहित आप इस नन्दिनी की सेवा कीजिये। यदि वह आपकी सेवा से प्रसन्न हो गई तो आपकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण हो जावेगी।

गुरु के उपर्युक्त आदेश को राजा तथा रानी दोनों ने ही नतमस्तक हो स्वीकार किया। वे वहीं रहने लगे। गो-सेवा के इस कार्य को उन्होंने व्रत के रूप में धारण किया। व्रत-धारण कर रात्रि में वे कुशनिर्मित चटाई पर ही सोते तथा प्रातःकाल वेदमन्त्रों की ध्वनि सुनते ही उठ बैठते। नित्यकर्म करने के उपरान्त सुदक्षिणा द्वारा विधिपूर्वक अर्चित नन्दिनी को लेकर वे चराने के लिए वन की ओर चल दिये। एतदर्थ उन्होंने—

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते, जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां, यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ।।१।।

अन्वयः—अथ प्रभाते यशोधनः प्रजानाम् अधिपः जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्यां पीतप्रतिबद्धवत्सां ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।।१।।

संस्कृत-व्याख्या—अथ = अनन्तरं [वसिष्ठाश्रमे रात्रिनयनानन्तरमितिभावः] प्रभाते = प्रातःकाले, यशोधनः - यशः कीर्तिः एव धनं यस्य सः [यशस्वी इत्यर्थः] प्रजानाम् = जनानाम्, अधिपः = स्वामी [संरक्षकः—दिलीपः], जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् = जायया, स्वपत्न्या = सुदक्षिणया प्रतिग्राहिते स्वीकारिते,,गन्धमाल्ये चन्दनमाले यया सा ताम् [एतादृशीं गाम्], पीतप्रतिबद्धवत्साम् = पूर्वं पीतः पश्चात् प्रतिबद्धः बन्धनं नीतः वत्सः यस्याः सा ताम् [एतादृशीं च गाम्], ऋषेः = मुनेः वसिष्ठस्य धेनुम् = गाम् [नन्दिनीमित्यर्थः] वनाय = काननाय, मुमोच = मुक्तवान् ।

हिन्दी-व्याख्या—(अथ) **इसके पश्चात्** अर्थात् **रात्रि व्यतीत** हो जाने के **अनन्तर**, (प्रभाते) **प्रातःकाल, यशोधनः** = [यश ही जिनका एकमात्र धन है ऐसे] **यशस्वी** (प्रजानां अधिपः) **प्रजाओं के स्वामी** अथवा **रक्षक राजा** दिलीप ने (जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्) **पत्नी सुदक्षिणा द्वारा जिसे सुगन्धित द्रव्य और माला** [फूलमालायें] **स्वीकार कराई गई थीं ऐसी** अर्थात् सुदक्षिणा द्वारा जिस गाय की चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों तथा फूलमालाओं से पूजा की गई थी ऐसी गाय] (पीतप्रतिबद्धवत्साम्) **दुग्ध-पान कर लेने के पश्चात् बाँध दिया गया है बछड़ा जिसका ऐसी** (ऋषे) **मुनि वसिष्ठ की** (धेनुम्) **गाय** [नन्दिनी] **को** (वनाय) **वन की ओर** [चराने के लिये] **ले जाने के लिये** (मुमोच) **छोड़ा अथवा छोड़ दिया ।**

भावार्थ—प्रातःकाल होने पर नित्य-कर्मों [स्नानध्यानादि] से निबट जाने के बाद राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने मुनि वसिष्ठ की गाय (नन्दिनी) का उचित पूजन किया । उनका दुग्ध भी दुह लिया गया और जब बछड़ा भी दूध पीकर बाँध दिया तब राजा दिलीप ने गाय को वन में चराने हेतु में चलने के लिये उसे [खूंटे से] खोला ।

व्याकरण—प्रजानाम्—प्र + जन् + ड '[अ]' 'टि' [अन्] का लोप तदनन्तर

स्त्रीत्व—विवक्षा में 'टाप्' होकर=प्रजा—षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्रजानाम्। **अधिपः**—अधि + पा + क [आतश्चोपसर्गे कः से 'क'] तदनन्तर धातु के 'आ' का लोप होकर प्रथमा विभक्ति के एकवचन में अधिपः। **माल्याम्**—=माला + ष्यन्—(अकार का लोप होने के पश्चात्)—माल्यम्। **प्रतिबद्ध**—प्रति + बन्ध् + क्त। **मुमोच**—मुच् + लिट् प्रथम-पुरुष, एकवचन का रूप]।

समास—**यशोधनः**—यशः एव धनं यस्य सः यशोधनः (बहुव्रीहि समास)। **जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्**—गन्धं च माल्यं च गन्धमाल्ये (द्वन्द्व), जायया प्रतिग्राहिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या ताम् (बहुव्रीहि समास)। **पीतप्रतिबद्धवत्साम्**—आदौ पीतः पश्चात् प्रतिबद्धः वत्सः यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**अथ**—इसके पश्चात्—रात्रि बीतने के पश्चात्। **प्रभाते**—प्रातःकाल, सुबह। **यशोधनः**—यश ही धन है, जिसका—अर्थात् यशस्वी। यह "प्रजानामधिपः" का विशेषण है। **अधिपः**—स्वामी, रक्षक अथवा संरक्षक। **जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्**—सुदक्षिणा द्वारा गन्ध और माला जिसे स्वीकार करवाया गया है, ऐसी गाय [रानी सुदक्षिणा द्वारा गाय का जो पूजन किया गया था, उसी में रानी ने गाय को सुगन्धित द्रव्य तथा माला अर्पित की थी।] यह 'धेनु' का विषेशण है। **पीतप्रतिबद्धवत्साम्**—दूध पीने के पश्चात् जिसका बछड़ा बाँध दिया गया था, उसी गाय को। यह भी "धेनु" का विशेषण है। **वत्सः**—बछड़ा। **ऋषेः**—मुनि वसिष्ठ को। **वनाय**—वन जाने के लिये—चराने के लिये, वन की ओर ले जाने के निमित्त। "यहाँ" क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्र से कर्म में चतुर्थी विभक्ति हुई है। **मुमोच**—छोड़ा (खोला, खोल दिया)।

छन्द—इस पद्य में 'उपजाति' छन्द है। **लक्षण**—"अनन्तरोदीरित-लक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।" अर्थात् इन्द्रवज्रा के तथा उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से उपजाति वृत्त (छन्द) बनता है।

अब इस प्रथम श्लोक में उपजाति वृत्त के लक्षण को घटा लिया जाय—

अ थ प्र	जानाम	धिपः प्र	भाते
। ऽ ।	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ ऽ (उपेन्द्रवज्रा)

छायाप्र	तिग्राह्वि	तगन्ध	माल्यां	
ऽऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽऽ	(इन्द्रवज्रा)
वनाय	पीतप्र	तिबद्ध	वत्सां	
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽऽ	(उपेन्द्रवज्रा)
यशोध	नो धेनु	मृषेर्मु	मोच	
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽऽ	(उपेन्द्रवज्रा)

[चरण का अन्तिम वर्ण लघु होने पर भी आवश्यकतानुसार गुरु मान लिया जाया करता है।]

इस भाँति उपर्युक्त श्लोक के तीन चरणों में उपेन्द्रवज्रा तथा एक चरण में इन्द्रवज्रा का लक्षण घटने से उक्त श्लोक में "उपजाति" वृत्त का होना स्पष्ट हो जाता है।

विशेष—इस सर्ग में प्रथम श्लोक से लेकर ७४ वें श्लोक तक "उपजाति" छन्द या वृत्त है। अतः अब ७४ वें श्लोक तक 'छन्द' का वर्णन नहीं किया जायेगा। उपर्युक्त विवरण के आधार पर ही ७४ वें श्लोक तक लक्षण घटाकर स्पष्ट किया जा सकता है। □

प्रसङ्ग—अब नन्दिनी चरने के लिए वन की ओर गमन कर रही है। सुदक्षिणा भी उनके पीछे-पीछे कुछ दूर तक गमन करती हैं—

तस्याः खरन्यासपवित्रपांसमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥२॥

अन्वयः—अपांसुलानाम् धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासपवित्र-पांसुम् तस्याः मार्गं स्मृतिः श्रुतेः अर्थं इव अन्वगच्छत् ॥२॥

संस्कृत-व्याख्या—अपांसुलानाम् = दोषरहितानाम् [पांसवः = दोषाः]—पवित्रतानामित्यर्थः, धुरि = अग्रे, कीर्तनीया = परिगणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी = महाराजदिलीपधर्मपत्नी—राजमहिषी सुदक्षिणा इत्यर्थः, खुरन्यासपवित्र-पांसुम् खुराणां न्यासैः निक्षेपैः पवित्राः पूताः पांसवो रजांसि [धूलयः यस्य तम्—चरणनिक्षेपपवित्रधूलिम्, तस्याः = नन्दिन्याः मार्गम् = पन्थानम्, स्मृतिः = मन्वादिवाक्यम्, श्रुतेः = वेदस्य, अर्थम् = प्रतिपाद्यविषयम्, इव = तद्वत्, अन्वगच्छत् अनुसृतवती। यथा स्मृतिः श्रुत्यर्थमनुगच्छति तथैव सुदक्षिणा

हिन्दी-व्याख्या—अपांसुलानाम्=दोषरहित [पवित्र] अर्थात् पतिव्रता स्त्रियों में (धुरि-कीर्तनीया) अग्रगण्य [अर्थात् सर्वश्रेष्ठ] (मनुस्येश्वरधर्मपत्नी) राजा [दिलीप] की पत्नी सुदक्षिणा ने (खुरन्यासपवित्रपांसुम्) खुरों के रखने से पवित्र हुयी धूलि से युक्त (तस्याः) उस नन्दिनी [नामक गाय] के [मार्गम्] मार्ग का (स्मृतिः) मनु आदि रचित स्मृतिग्रन्थ (श्रुतेः) वेद के (अर्थम्) प्रतिपाद्य विषय (इव) के सदृश (अन्वगच्छत्) अनुसरण किया।

भावार्थ--महाकवि द्वारा इस पद में यह दर्शाया गया है कि जिस भाँति मनु आदि द्वारा रचित स्मृतिग्रन्थ वेद के प्रतिपाद्य विषय का अनुसरण किया करते हैं, उसी भाँति राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा भी नन्दिनी के पदचिह्नों का अनुसरण कर रही थीं। सुदक्षिणा पतिव्रता स्त्रियों में अग्रगण्य थी। नन्दिनी नामक मुनि वसिष्ठ की गाय की सेवा का व्रत उन्होंने ले रखा था। वे उसकी सेवा में पूर्ण मनोयोग के साथ संलग्न थीं, वे जानती थीं कि वह गाय जिस स्थान पर अपने चरणों (खुरों) को रखती है, उस स्थान की धूलि पूर्णतया पवित्र हो जाती है। अतएव उन्हीं चरण-चिह्नों के ऊपर सुदक्षिणा भी अपने चरणों को डाल रही थीं तथा स्वयं भी उस पवित्र धूलि के स्पर्श से अपने को पवित्र होता हुआ समझ रही थीं।

स्मृतियों के लेखक याज्ञवल्क्य, मनु आदि सभी जानते थे कि वे ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण हैं। अतएव उन्होंने अपनी स्मृतियों में जिन कर्त्तव्यों अथवा सिद्धान्तों का वर्णन किया है, वे सभी कर्त्तव्य अथवा सिद्धान्त वेदों में वर्णित हैं, तथा प्रतिपाद्य विषयों के अनुकूल ही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि स्मृति-ग्रन्थों में भी वेद-प्रतिपाद्य विषयों का ही वर्णन है। अतएव वेद-प्रतिपाद्य विषयों की पवित्रता के आधार पर ही स्मृतिग्रन्थों की भी पवित्रता स्वीकार की जाती है। इसी भाँति नन्दिनी अत्यन्त पवित्र एवं पूजनीय थीं—पृथ्वी की जिस धूलि पर अपने चरणों (खुरों) को रखती थीं वह धूलि भी उनके स्पर्श को पाकर पवित्र हो जाती थी (जैसे कि वेदों की पवित्रता के साथ ही साथ उसके प्रतिपाद्य विषयों में भी पवित्रता आ जाती है।) फिर धूलि में विद्यमान उन्हीं पदचिह्नों पर अपने को पवित्र बनाने की धारणा से सुदक्षिणा भी पैर रखकर उस गाय का अनुगमन कर रहीं थीं [जैसे कि वेदों के प्रतिपाद्य-पवित्र-विषयों

के आधार पर लिखे गये स्मृतिग्रन्थ भी पवित्र एवं मानवीय हो जाया करते हैं।

अलङ्कार—उपर्युक्त पद्य में "उपमा" अलङ्कार है। सुदक्षिणा, नन्दिनी तथा मार्ग, इन तीनों उपमेयों के लिये क्रमशः स्मृति, श्रुति और अर्थ (वेद प्रतिपाद्य-विषय) नामक उपमानों की कल्पना की गयी है। "इव" उपमावाचक शब्द है। (अन्तर्निहित) [पवित्रता नामक भाव ही साधारण धर्म कहा जा सकता है।] इसके अतिरिक्त रानी (सुदक्षिणा) पांसुल (धूलियुक्त) मार्ग पर चलने पर भी 'अपांसुल' है—इस पद में विरोधाभास' अलङ्कार की भी झलक अथवा प्रतीति सी होती है।

व्याकरण—पांसुला—पांसु + लच् ["सिध्यादिभ्यश्च" सूत्र से लच] —तत्पश्चात् 'टाप्' होकर—पांसुला बनता है। **कीर्तनीया**—कृत + णिच + अनीयर + टाप्। **न्यास**—नि + अस् + घञ् (अ) तदनन्तर उपधावृद्धि। **श्रुतिः**—श्रू + क्तिन्। **स्मृति**—स्मृ + क्तिन्। **अन्वगच्छत्**—अनु + गम् + लङ्-लकार प्रथम पुरुष का एकवचन।

समास—अपांसुलानाम्—पांसवो (दोषाः) आसां सन्तीति पांसुलाः, न पांसुलाः—अपांसुलाः, तासाम्। **मनुष्येश्वरधर्मपत्नी**—मनुष्याणां ईश्वरः मनुष्येश्वरः धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी (मध्यमपदलोपी समास); मनुष्येश्वरस्य धर्मपत्नी मनुष्येश्वरधर्मपत्नी (षष्ठी तत्पुरुष)। **खुरन्यासपवित्रपांसुम्**—खुरानां न्यासः + खुरन्यासाः तैः पवित्राः पांसवो रजांसि यस्य सः तम्—खुरन्यासपवित्रपांसुम्।

टिप्पणियाँ—अपांसुलानाम्—दोषरहितों अर्थात् पतिव्रताओं के। पांसुला शब्द का अर्थ होता है—व्यभिचारिणी ("स्वैरिणी पांसुला"—कोश के इस वचन के अनुसार)—[स्वैरिणी का अर्थ व्यभिचारिणी है]। जो पांसुला नहीं है वह अपांसुला कहलाती है—अतः अपांसुला का अर्थ हुआ पतिव्रता स्त्री। **धुरि कीर्तनीया**—धूरि आगे, कीर्तनीया—गणना करने योग्य—अग्रगण्य [सर्वश्रेष्ठ]। **मनुष्येश्वरधर्मपत्नी**—राजा दिलीप की पत्नी 'सुदक्षिणा'। **खुरन्यासपवित्रपांसुम्**—खुरों के रखने से पवित्र हो गई है धूलि जिसकी [ऐसा मार्ग]। यह "मार्गम्" का विशेषण है। **अन्वगच्छत्**—अनुसरण किया, उसी मार्ग पर चली। □

प्रसङ्ग—कुछ दूर चलने के पश्चात् राजा ने सुदक्षिणा को लौटा दिया तथा एकाकी गाय के पीछे-पीछे चल दिये—

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥३॥

अन्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां गोरूपधरां उर्वीम् इव, तां सौरभेयीं जुगोप ॥३॥

संस्कृत-व्याख्या—दयालुः = कारुणिक [स्याद् दयालुः कारुणिक इत्यमरः], यशोभिः—कीर्तिभिः सुरभिः = मनोज्ञः (सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि इति विश्वः)। राजा = भूपः दिलीपः ताम् = अनुगच्छन्तीम्, दयिताम्—प्रियाम् पत्नीमित्यर्थः] सुदक्षिणाम् निवर्त्य = परावर्त्य पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् = स्तनीभूत = चतुःसागराम्, गोरूपधराम् = धेनुस्वरूपधारिणीम्, उर्वीम् = पृथ्वीं, इव, पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम् = पयसा दुग्धेन अधरीभूताः तिरस्कृताः चत्वार चतुःसंख्याकाः समुद्राः यस्यास्ताम्, सौरभेयीम् = कामधेनुसुतां नन्दिनीम्, जुगोप—ररक्ष।

हिन्दी-व्याख्या—(दयालुः) **दयार्द्र स्वभाव वाले** (यशोभिः) [अपनी] **कीर्ति से** (सुरभिः) **सुन्दर** [अथवा सुशोभित] (राजा) **राजा दिलीप ने** (ताम्) **अनुगमन करने वाली उस** (दयिताम्) [अपनी] **प्रिया** [पत्नी]—**सुदक्षिणा को** (निवर्त्य) **लौटाकर** (पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्) **चार स्तनों रूपी चार समुद्रों को धारण करने वाली** (गोरूपधारिणीं पृथ्वीम् इव) **पृथ्वी के सदृश** (पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्) [अपने दूध के आधिक्य] **से चारों समुद्रों को भी नीचा दिखला देने वाली** (तां सौरभेयीम्) **कामधेनु की पुत्री इस नन्दिनी नामक गाय की** (जुगोप) **रक्षा की**

भावार्थ—दयालु तथा कीर्तिमान राजा दिलीप ने [थोड़ी ही दूर जाने के पश्चात्] अपनी पत्नी सुदक्षिणा को लौटा दिया और फिर अकेले ही उस नन्दिनी की सेवा तथा संरक्षण में तत्पर हुये। उस समय चार थनों वाली वह नन्दिनी चार समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी के सदृश प्रतीत हो रही थी। अथवा अपने दुग्ध के आधिक्य से समुद्रों का नीचा दिखा देने वाली वह गाय नन्दिनी चारों समुद्रों से घिरी हुयी गोरूपधारिणी पृथ्वी के सदृश प्रतीत हो रही थी।

अलङ्कार—इस श्लोक में उत्प्रेक्षा अलङ्कार तो स्पष्ट ही है । गाय मानो पृथ्वी ही हो । इसके अतिरिक्त "पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्" इस पद मे पृथ्वी तथा गाय दोनों का विशेषण होने के कारण दो प्रकार के अर्थों का द्योतन करने की दृष्टि से 'श्लेष' अलङ्कार है ।

व्याकरण—दयालुः—दय + आलुच् । **दयिता**—दय + इट् + क्त—टाप् । **निवर्त्य**—नि + वृत् + ल्यप् । **सौरभेयीम्**—सुरभि + (अपत्य अर्थ में) ढक् + ङीप् । यहाँ "स्त्रीभ्यो ढक" सूत्र से 'ढक् हुआ है । **जुगोप**—गुप् धातु के लिट् लकार के प्रथम पुरुष में एकवचन का रूप ।

समास—पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्—(पृथ्वी पक्ष में—) धरन्तीति धराः (कृदन्त) पयसां धराः पयोधराः (तत्पुरुष), न पयोधराः अपयोधराः, अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः चत्वारः समुद्रा यस्याः सा ताम् । (गाय पक्ष में—) पयसा अधिरीभूताः चत्वारः समुद्रा यस्याः सा ताम् । **गो रूपधराम्**—धरतीति धराः (कृदन्त) गोः रूपम् गोपरूप (तत्पुरुष), गोरूपम् धरा, गोरूपधरा ताम् (तत्पुरुष समास) । **सौरभेयीम्**—सुरभेरपत्यं स्त्री सौरभेयी ताम् सौरभेयीम्

टिप्पणियाँ—निवर्त्य—लौटाकर । **दयिताम्**—प्रिया को—प्रियपत्नी सुदक्षिणा को । **सुरभिः**—मनोज्ञ, सुन्दर । **पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्**—यह 'उर्वीम्' तथा "सौरभेयीम्" दोनों का विशेषण है । दोनों पक्षों में इसके अर्थ देखिये जिसके दूध के आधिक्य से चारों समुद्र तिरस्कृत हो गये थे । तात्पर्य यह है कि उसके स्तनों में इतना अधिक दूध था कि जितना जल चारों समुद्रों में भी न था । [गाय पक्ष में यह अर्थ हुआ, अब पृथ्वी पक्ष में देखिये—] चार स्तनों रूपी चार समुद्रों को धारण करने वाली । **गोरूपधराम्**—गाय रूप में पृथ्वी—गोरूपधारिणी । **उर्वीम्**—पृथ्वी को । **सौरभेयीम्**—कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को । **जुगोप**—रक्षा की । □

प्रसङ्ग—पत्नी को लौटाने के पश्चात् राजा ने सभी अनुयायियों [सेवकों आदि] को भी लौटा दिया क्योंकि यह अपनी तथा गाय की रक्षा में स्वयं ही समर्थ था ।

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥४॥

अन्वयः—धेनोः अनुचरेण तेन व्रताय शेषः अपि अनुयायिवर्गः न्यषेधि। तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न हि मनोः प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता ॥४॥

संस्कृत-व्याख्या—धेनोः=गोः, नन्दिन्याः इत्यर्थः अनुचरेण=सेवकेन, तेन=दिलीपेन, व्रताय=पूर्णरूपेण गोसेवारूपव्रतपालनाय, शेषः=अवशिष्टः, अपि, अनुयायिवर्गः=सेवकसमुदायः, न्यषेधि=निर्वर्तितः [व्रतपालनार्थं वने गामनुसरन् राजा दिलीपः पूर्वं स्वपत्नीं सुदक्षिणां निवर्त्तयामास पश्चात् अन्यान् सेवकान् अपि अनुगमनात् निवारितवान्—इति भावः]। तस्य=राज्ञः, शरीररक्षा=शरीरसंरक्षणम् च, अन्यतः—कस्मादप्यन्यस्वात् पुरुषात्, न=नहि [दिलीपस्य देहसंरक्षणाय अन्यस्य कस्यचिदपि जनस्य आवश्यकता न आसीत्—इति भावः], हि=यतः, मनोः=मनु इत्यस्य राज्ञः, प्रसूतिः=सन्ततिः, स्ववीर्यगुप्ता=स्ववीर्येण आत्मीयपराक्रमेण गुप्ता रक्षिता (भवति) (यतः मनोः कुलधराः नृपतयः स्वभुजबलेनैव सर्वत्र स्वरक्षां कुर्वन्तीति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(धेनोः) **गाय नन्दिनी के** (सच्चे) (अनुचरेण) **सेवक** (तेन) **राजा दिलीप ने** (व्रताय) **पूर्णरूप से अपना वृत पालन करने के निमित्त** (शेषः) **बचे हुये** (अनुयायिवर्गः अपि) **सेवक वर्ग को** (न्यषेधि) **आगे चलने से मना कर दिया—रोक दिया।** (तस्य) **उस दिलीप के** (शरीररक्षा) **शरीर की रक्षा** (अन्यतः) **किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाना सम्भव** (न) **नहीं था।** (हि) **क्योंकि** (मनोः) **मनु की** (प्रसूतिः) **सन्तान** (स्ववीर्यगुप्ता) **अपने पराक्रम से अपनी रक्षा करने वाली हुआ करती हैं।**

भावार्थ—राजा दिलीप ने मुनि वसिष्ठ की आज्ञा से गोसेवारूपी व्रत को स्वीकार कर लिया था। वह पत्नी सहित उसकी सेवा में संलग्न रहा करते थे। जब उन्होंने गाय को वन में चरने के लिये छोड़ा तब उनकी पत्नी तथा कुछ सेवक भी उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। गो-सेवा-व्रत का पूर्णता के साथ पालन करने के लिये उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वे एकाकी ही उस गो के साथ गमन करें। अतः उन्होंने सुदक्षिणा (अपनी पत्नी) को तो पहले ही लौटा दिया था। बाद में उन्होंने सभी सेवकों को भी वापिस कर दिया। क्योंकि वे जानते थे कि वे मनु की सन्तान हैं तथा मनु की सन्तान अथवा मनुवंशोत्पन्न राजा अपने शरीर की रक्षा करने में स्वयं भी समर्थ हुआ करते हैं और एतदर्थ उन्हें

किसी अन्य व्यक्ति की सहायता की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती है । इसी कारण उन्होंने सभी सेवकों को वापिस कर दिया ।

विशेष—वस्तुतः दिलीप ने सन्तान-प्राप्ति के निमित्त ही नन्दिनी की सेवा का व्रत लिया था । उन्होंने दृढ़ता के साथ उसका पालन भी किया । वे गौ के सच्चे और यथार्थ अनुचर बने । इसी सेवाव्रत की सार्थकता हेतु उन्होंने अपनी पत्नी तथा सभी सेवकों को भी अपने साथ वन में जाने से रोक दिया और अकेले ही गाय के साथ वन को गये । जो व्यक्ति स्वयं अपनी रक्षा के लिये दूसरों पर आश्रित रहा करता है वह दूसरे की सेवा क्या कर सकता है । अतः उन्हें किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं थी । इस भाँति महाराज दिलीप ने सच्ची सेवा का एक आदश ही उपस्थित कर दिया ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**अनुचरः**—अनु + चर् + ट (अ) । **अनुयायिनः**—अनु + या + णिनि (इन्), धातु के अकारान्त होने से युक् (य) का आगम होकर—अनुयायिनः । **रक्षा**—रक्ष् + अ + टाप् । **शेषः**—शिष् + घञ् (अ)—पश्चात् गुण । **न्यषेधि**—नि + षिध् + लुङ् (कर्मवाच्य) । **प्रसूतिः**—प्र + सू + क्तिन् । **गुप्ता**—गुप् + क्त + टाप् ।

समास—**अनुयायिवर्गः**—अनुयायिनां वर्गः (षष्ठी तत्पुरुष) । **शरीररक्षा**—शरीरस्य रक्षा । **स्ववीर्यगुप्ता**—स्वस्य वीर्यं स्ववीर्यं, स्ववीर्येण गुप्ता (तृतीया तत्पुरुष) स्ववीर्यगुप्ता ।

टिप्पणियाँ—**व्रताय**—पूर्णरूप से व्रत का पालन करने हेतु । राजा ने गो-सेवा का व्रत सन्तान-प्राप्ति के उद्देश्य से ही धारण किया था । **अनुचरेण**—सेवकेन । "अनुचरेण न्यषेधि"—यहाँ पर "अनुक्ते कर्तरि तृतीया" से तृतीया विभक्ति हुयी है । **शेषः**—अवशिष्ट, बचे हुये । यह "अनुयायिवर्गः" का विशेषण है । सुदक्षिणा को लौटा देने के पश्चात् जो कुछ भी नौकर-चाकर उस गाय के साथ चल रहे थे—उनको भी राजा ने लौटा दिया । **न्यषेधि**—मना कर दिया, रोक दिया । राजा दिलीप ने अपने साथ चलने से रोक दिया । **अनुयायिवर्गः**—सेवकवर्ग—नौकर-चाकर । **शरीररक्षा**—(अपनी) देह की रक्षा । **अन्यतः**—दूसरों से अर्थात् अन्य किसी व्यक्ति की सहायता अथवा आश्रय से । राजा को अपने बाहुबल पर विश्वास था । अपने शरीर-रक्षा हेतु

उसे किसी अन्य व्यक्ति की सहायता अथवा आश्रय की आवश्यकता न थी। हि—क्योंकि। मनोःप्रसूतिः—मनु की सन्तान अथवा मनुवंशी राजा। स्ववीर्यगुप्ता—अपने ही पराक्रम से रक्षित। मनुवंशी लोगों की रक्षा अपने ही पराक्रम द्वारा हुआ करती है। एतदर्थ वे किसी अन्य के आश्रित नहीं रहा करते (थे)। स्वयं ही अपने रक्षक हुआ करते थे। □

प्रसङ्ग—राजा दिलीप द्वारा की जाती हुयी गो-सेवा—

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां, कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

अन्वयः—सम्राट् सः आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः, कण्डूयनैः, दंशनिवारणैः, अव्याहतैः स्वैरगतैः (च) तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ॥५॥

संस्कृत-व्याख्या—सम्राट् = सार्वभौमो राजा, सः = दिलीपः, आस्वादवद्भिः = स्वादयुक्तैः सरसैर्वा, तृणानाम् = शष्याणाम्, कवलैः = ग्रासैः, कण्डूयनैः = खर्जनैः, दंशनिवारणैः = अरण्यमक्षिकादूरीकरणैः, अव्याहतैः = बाधाविहीनैः, स्वैरगतैः = स्वच्छन्दविचरणैः, च, तस्याः = नन्दिन्याः, समाराधनतत्परः = सेवासंलग्नः, अभूत् = जातः। अरण्ये नन्दिनीमनुसरन् राजा दिलीपः नानाप्रकारकैः सन्तुष्टिप्रदायकैः उपायैः तस्याः सुश्रूषासक्तः अभूत्। राजा कदाचित् सरसैः शष्पैः कदाचित् कण्डूयनैः, कदाचित् दशमशकादिजन्तुनिवारणैः तां गां सिषेवे—इति भावः।

हिन्दी व्याख्या—(सम्राट्) **सार्वभौम राजा** (सः) **दिलीप** (आस्वादवद्भिः) (तृणानाम्) **हरी घास के** (कवलैः) **ग्रासों द्वारा,** (कण्डूयनैः) **खुजलाने के द्वारा,** (दंशनिवारणैः) **डाँस, मच्छर इत्यादि के दूर करने के द्वारा,** (अव्याहतैः) **बाधारहित** (स्वैरगतैः) **स्वच्छन्द गमनों के द्वारा,** (तस्याः) **उस नन्दिनी नामक गाय की** (समाराधनतत्परः) **सेवा में संलग्न** (अभूत्) **हो गया।**

भावार्थ—वन में नन्दिनी नामक गाय के पीछे-पीछे अनुगमन करते हुए राजा दिलीप ने नाना प्रकार के उस गाय को सन्तुष्ट करने वाले उपायों द्वारा उसकी सेवा की। कभी वे उसे स्वादिष्ट घास के कौरों को खिलाते थे। कभी खुजलाने के द्वारा उसकी खुजलाहट को दूर करते थे। कभी वनमक्षिका, डाँस, मच्छर आदि को उसके शरीर से दूर भगाते थे। उसके स्वतन्त्रतापूर्वक गमन

करने में भी वे किसी प्रकार की बाधा नहीं डालते थे। वह जिस ओर गमन करती थी उसी ओर उसे जाने देते थे—स्वयं भी उसी प्रकार उसके पीछे-पीछे चलते थे।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "समुच्चय" नामक अलङ्कार है लक्षण—
"भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः।"

व्याकरण—सम्राट्—सम् + राज् + क्विप। **आस्वादवद्भिः**—आस्वाद + मतुप्—तृतीया विभक्ति के बहुवचन का रूप। **कण्डूयनैः**—कण्डू + यक्—उसके पश्चात् ल्युट् (अन) होकर—तृतीया विभक्ति के बहुवचन में। **अव्याहतैः**—अ + वि + आ + हन् + क्त—तृतीया बहुवचन में। **समाराधनम्**—सम् + आ + राध् + ल्युट् (अन)।

समास—**आस्वादवद्भिः**—आस्वादनं आस्वादः सः अस्ति येषां ते तैः। **दंशनिवारणैः**—दंशानां निवारणैः **स्वैरगतैः**—स्वैरं यथा स्यात्तथा गतानि तैः। **समाराधनतत्परः**—समाराधने तत्परः।

टिप्पणियाँ—**सम्राट्**—सार्वभौम राजा। जो राजसूय यज्ञ कर चुका हो, राज-समूह का अधिपति हो गया तथा जो अनेक राजाओं पर अपनी आज्ञा से शासन करता हो—"येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्॥" **आस्वादवद्भिः**—स्वादिष्ट, स्वादपूर्ण, सरस। **कवलैः**—(हरी घास के) ग्रासों (कौरों) के द्वारा। **तृणानाम्**—हरी घास के। राजा द्वारा गाय को स्वादिष्ट हरी-हरी घास के कौरे खिलाये जाते थे। **कण्डूयनैः**—खुजलाने के द्वारा, खुजलाहट मिटाने के द्वारा। **दंशनिवारणैः**—वनमक्षिका, डाँस, मच्छर आदि को दूर करने के द्वारा। जब मक्खी, मच्छर आदि गाय को सताते थे तब राजा उनको उसके शरीर से तुरन्त ही हटा देता था। **अव्याहतैः**—बाधा-रहित, बेरोक-टोक। **स्वैरगतैः**—स्वच्छन्द गमनों के द्वारा। गाय जिस ओर भी जाना चाहे, जाये इस भाँति। **समाराधानतत्परः**—सेवा में संलग्न। **अभूत्**—हो गया। □

प्रसङ्ग—राजा की सेवा-संलग्नता—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां, निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां, छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥६॥

अन्वयः—भूपतिः तां स्थितां स्थितः, प्रयातां उच्चलित, निषेदुषीं आसनबन्धधीरः, जलं, आददानां जलाभिलाषी, (सन्) छाया इव अन्वगच्छत् ॥७॥

संस्कृत-व्याख्या—भूपतिः = नृपः दिलीपः, ताम् = गाम् स्थिताम् = सतीं, स्थितः = अवस्थितः, प्रायाताम् = प्रस्थिताम्, उच्चलितः = प्रस्थितः, निषेदुषीम् = निषण्णाम्–उपविष्टाम् वा, आसनबन्धधीरः = आसनबन्धे उपवेशने धीरः स्थिरः उपविष्टः सन्नित्यर्थः, जलम् = पानीयम्, आददानाम् = पिबन्तीम्, जलाभिलाषी = जलपानेच्छुकः सन् जलं पिबन्नित्यर्थः।, छाया इव, अन्वगच्छत् = अनुसृतवान् । [गोसेवारतः दिलीपः पूर्णरूपेण नन्दिन्याः अनुचरः जातः । वनविचरणावसरे सा नन्दिनी यां यां क्रियामनुचचार, राजा दिलीपोऽपि तां तामेव क्रियाम् अनुचरति स्म । यदा नन्दिनी गमनात् विरमति स्म तथा नृपोऽपि विरमति स्म । यदा सा चलितुमारभते स्म तथा दिलीपोऽपि स्वचलितुमारभते स्म । यदा सा कुत्रापि उपविशति स्म तथा राजाऽपि तत्रैव निश्चलभावेनोपविशति स्म । यदा सा जलं पिबति स्म तदा राजापि जलपानाभिलाषी भवति स्म । इत्थं नृपः सर्वतोभावेन छायेव तामनुजगाम नृपः स्वेच्छया कदापि गां न प्रेरितवान्—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(भूपतिः) राजा दिलीप (ताम्) उस गाय के (स्थिताम्) खड़े हो जाने पर (स्थितः) खड़े हो जाया करते थे । (प्रयाताम्) उसके चल देने पर (उच्चलितः) [राजा भी] चल दिया करते थे (निषेदुषीम्) उसके बैठ जाने पर [राजा स्वयं भी] (आसनबन्धधीरः) आसन लगाकर बैठ जाया करता था और जब वह (जलमाददानाम्) जल पीने लगती थी तब राजा भी (जलाभिलाषी) जल पीने का इच्छुक हो जाया करता था । [इस भांति] राजा ने (छाया इव) परछाईं के सदृश उस गाय का (अन्वगच्छत्) अनुगमन किया ।

भावार्थ—अब गाय की सेवा में रत राजा दिलीप सच्चे अर्थों में उस गाय नन्दिनी का सेवक बन गया । वन में विचरण करते समय गाय जिस क्रिया को करती थी, राजा दिलीप भी उसी उस क्रिया को किया करते थे । वह जब रुक जाती थी, राजा भी रुक जाते थे, वह जब चल देती थी, राजा भी चल देता था, जब वह बैठ जाती थी तब राजा भी आसन बांधकर बैठ जाता था और जब गाय जल पीने लगती थी, तब राजा भी जल पीने का इच्छुक हो जाया करता था । इस भांति राजा ने अपनी इच्छा के अनुसार उस गाय को प्रेरित करने का प्रयास कभी नहीं किया तथा उसी की क्रिया के अनुसार स्वयं भी

आचरण करते रहे। सेवाभाव की तल्लीनता एवं तन्मयता का यह एक उत्तम उदाहरण है। सेवा-कार्य में 'सेव्य' की इच्छा का विघात न होना परमावश्यक है। मुनि वसिष्ठ ने इसी भाँति की सेवा करने का आदेश राजा को दिया था। राजा ने उसका अक्षरशः पालन किया।

अलङ्कार—इसमें 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—**स्थिताम्**—स्था + क्त (त) (धातु के 'आ' के स्थान पर 'इ' हो जाने पर) + टाप्। **प्रयाताम्**—प्र + या + क्त (त) + टाप्। **उच्चलितः**—उद् + चल् + क्त। **निषेदुषीम्**—नि + षद् क्वसु (वस्) + ङीप्। **अभिलाषी**—अभि + लष् + णिनि (कर्तरि)—उपधावृद्धि। **आददानाम्**—आ + दा + शानच् + टाप्। **अन्वगच्छत्**—अनु + गम् + लङ्—प्रथमपुरुष के एकवचन का रूप।

समास—**आसनबन्धधीरः**—आसनस्य बन्धः (तत्पुरुष समास) आसनबन्धः तस्मिन् धीरः (सुप्सुपा समास) इति। **जलाभिलाषी**—जलस्य अभिलाषी इति। **भूपतिः**—भुवः पतिः।

टिप्पणियाँ—**स्थिताम्**—स्थित होने पर, खड़ी हो जाने पर। **स्थितः**—खड़ा हो गया—रुक जाता था, खडा हो जाता था। **प्रयाताम्**—चलती हुयी को, चल देने (गमन करने) पर। **उच्चलितः**—चलता (गमन करता) हुआ अर्थात् राजा भी चल देता था। **निषेदुषीम्**—बैठी हुयी को अर्थात् गाय के बैठ जाने पर। **आसनबन्धधीरः**—आसन बाँधकर बैठ जाते थे। **आददानाम्**—पीती हुई को अर्थात् जब गाय जल पीने लगती थी। **जलाभिलाषी**—प्यासा—जल पीने का इच्छुक। **छाया**—परछाई। **अन्वगच्छत्**—पीछे-पीछे गया। जिस भाँति मनुष्य की छाया सदैव उसके साथ ही रहा करती है, उसी भाँति राजा दिलीप भी निरन्तर गाय का अनुगमन करते थे। इस प्रकार राजा दिलीप पूर्ण निष्ठा के साथ गाय की सेवा में संलग्न थे।

प्रसङ्ग—नन्दिनी की सेवा में संलग्न राजा की शोभा कैसी प्रतीत होती थी? यह निम्नलिखित श्लोक में देखिये—

सः न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं, तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थः इव द्विपेन्द्रः॥७॥

अन्वय—न्यस्तचिह्नां अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः सः अनाविष्कृतदानराजिः अन्तर्मदावस्थ द्विपेन्द्रः इव आसीत्॥७॥

संस्कृत-व्याख्या—न्यस्तचिह्नाम् = न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्याः ताम्, अपि, तेजोविशेषानुमिताम् = तेजोविशेषण अनुमितां ज्ञातुं योग्याम्, राजलक्ष्मीम् = राजश्रियम्, दधानः = धारयन्, सः = राजा दिलीपः, अनाविष्कृतदानराजिः = बहिरप्रकटितमदरेखः, अन्तर्मदावस्थाः = अन्तर्निहितमददशः, द्विपेन्द्रः = गजराजः, इव, आसीत् । गोसेवार्थं वनं गच्छता राज्ञा दिलीपेन छत्रचामरादीनि राजचिह्नानि परित्यक्तानि तथापि तस्य प्रभावशालिन्या आकृत्या एव जनः तस्य नृपत्वं अनुमातुं शशाक । तस्मिन् समये सः बहिरप्रकटीकृतमदरेखः गजराज इव आसीत्—इति भावः ।

हिन्दी-व्याख्या—(न्यस्तचिह्नाम्) छत्र, चामर आदि राजचिह्नों के रहित [होने पर। (अपि) भी (तेजोविशेषानुमिताम्) अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से ही अनुमान किये जाने योग्य (राजलक्ष्मीम्) राजलक्ष्मी को (दधानः) धारण किये हुये (सः) वह राजा दिलीप (अनाविष्कृतदानराजिः) जिसकी मद की रेखा अभी तक बाह्य रूप से प्रकट नहीं हो सकी थी अतएव (अन्तर्मदावस्थः) अन्तर्गत ही विद्यमान मद की अवस्था से युक्त (द्विपेन्द्र इव) गजराज के सदृश (आसीत्) प्रतीत होते थे ।

भावार्थ—गो सेवा-व्रत को धारण कर लेने के अनन्तर राजा के लिये यह आवश्यक था कि वह सभी राजचिह्नों का त्याग कर दे । अतः उसने सभी राजचिह्नों का त्याग कर दिया था तथा एक साधारण पुरुष की भाँति वह व्रत-पूर्ति के निमित्त गो-सेवा में रत था । इन चिह्नों का त्याग कर देने पर भी वह अपने विशेष प्रभाव तथा तेज के कारण अपने को छिपा न सका । जनसाधारण यह समझ जाता था कि यही राजा दिलीप है । इस भाँति उस समय राजा उस मतवाले हाथी के सदृश प्रतीत होता था कि जिसके मद की रेखा बाहर प्रस्फुटित न हो सकी हो और अन्दर ही अन्तर्निहित रही हो ।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उपमा' अलङ्कार है ।

व्याकरण—न्यस्त—नि + अस् + क्त (त) । अनुमिता—अनु + मा + क्त + टाप् । दधानः—धा + शानच् । द्विप—द्वि + पा + क (अ) धातु के 'आ' का लोप होकर ।

समास—न्यस्तचिह्नाम्—न्यस्तानि चिह्नानि यस्याः (बहुव्रीहि) ताम् । तेजोविशेषानुमिताम्—तेजसां विशेषः, तेजोविशेषः तेने अनुमिता (तृतीया

तत्पुरुष) ताम् । **राजलक्ष्मीम्**—राज्ञः लक्ष्मीः राजलक्ष्मीः (षष्ठी तत्पुरुष) ताम्। **अनाविष्कृतदानराजिः**—न आविष्कृता अनाविष्कृता अनाविष्कृता दानराजिः यस्य सः (बहुव्रीहि) । **अन्तर्मदावस्था**—मदस्य अवस्थास्था–मदावस्था, अन्तर्गता मदावस्था यस्य सः । **द्विपेन्द्रः**—द्विपानां इन्द्रः इति ।

टिप्पणियाँ—न्यस्तचिह्नाम्—राजचिह्नों का त्याग जिसने कर दिया था अर्थात् राजचिह्नों से विहीन । चमर, छत्र आदि राजचिह्न हुआ करते हैं। गाय की सेवा करते समय राजा दिलीप ने इन चिह्नों का त्याग कर दिया था। **तेजोविशेषानुमिताम्**—विशिष्ट तेज अथवा प्रभावशालिता के कारण जिसके राजा होने का अनुमान लग ही जाता था । अन्य लोग उसकी प्रभावशाली आकृति से ही उसके राजा होने का अनुमान कर लेते थे । **दधानः**—धारण किये हुये । **अनाविष्कृतदानराजिः**– मद की रेखा जिसकी अभी तक प्रकट न हो सकी हो ऐसा हाथी । यह "द्विपेन्द्रः" का विशेषण है । **अन्तर्मदावस्थः**—जिनकी मद वाली अवस्था अभी अन्दर हो छिपी हुई हो—प्रकट न हो पाई हो । इस श्लोक में महाकवि ने यह दर्शाया है कि जिसकी जैसी स्वाभाविक सत्ता हुआ करती है, वह उसी सत्ता से प्रकट हो जाया करता है । उसे बाह्य साधनों से अपने को सुसज्जित करने की आवश्यकता नहीं हुआ करती है। राजा का अपना स्वाभाविक व्यक्तित्व ही इस प्रकार का था कि जिससे उसके राजा होने की अनुभूति दर्शकों को स्वयं ही हो जाया करती थी ।

प्रसङ्ग—वन में विचरण करते हुए राजा दिलीप कैसे प्रतीत होते थे—

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्वान् ।।८।।

अन्वयः—लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः अधिज्यधन्वा सः मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्वान् विनेष्यन् इव दावं विचचार ।।८।।

संस्कृत व्याख्या—लताप्रतानोद्ग्रथितैः=लतानां वल्लीनां 'वल्ली तु व्रततिर्लता इत्यमरः] प्रतानानि कुटिलतन्तवः तैः उद्ग्रथिता गुम्फिताः तैः केशैः—शिरोरुहैः [कचाः केशाः शिरोरुहाः इत्यमरः] (युक्तः), अधिज्यधन्वा—अधिगता आरोपिता ज्या प्रत्यञ्चा यस्मिन् तादृशं धनुः चापः यस्य सः—राजा दिलीपः; मुनिहोमधेनोः-मुनेः वसिष्ठस्य होमसाधनभूतायाः धेनोः नन्दिन्याः, रक्षापदेशात्—रक्षणव्याजात्, वन्यान्—वने भवान्, दुष्टसत्वान्—हिंसक जन्तून, विनेष्यन्

शिक्षयिष्यन्, इव, दावम्=वनम्, विचचार=बभ्राम। नृप: दिलीप: नन्दिनीमनुसरन् लतावृक्षादिबहुले कानने भ्रमन्नासीत् अतएव तस्य केशा: लतातन्तुभि: उद्ग्रथिता: जाता: एवंविधै: गुम्फितै: केशै: उपलक्षित: राजा धनु: हस्ते धारयन् अरण्ये परिभ्रमन् एवं प्रतीयमान आसीत् यत् स मुने: वसिष्ठस्य धेनो: रक्षणव्याजेन काननसमुद्भवान् सिंहव्याघ्रादीन् हिंसकान् पशून् शिक्षयिष्यन् इव अरण्ये विचरणं कुर्वन् आसीदितिभाव:।।

हिन्दी-व्याख्या—(लताप्रतानोद्ग्रथितै:) **लताओं के टेढ़े-मेढ़े तन्तुओं से गुंथे** (उलझे) **हुए** (केशै:) **बालों से सुशोभित** (अधिज्यधन्वा) **चढ़ी हुयी प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष को धारण किये हुए** (स:) **वह राजा दिलीप** (मुनिहोमधेनो:) **वसिष्ठ मुनि की होम-द्रव्यों** (घृत, दुग्ध आदि) **को प्रदान करने वाली गौ की** (रक्षापदेशात्) **रक्षा करने के बहाने से** (वन्यान्) **वन में उत्पन्न होने वाले** (दुष्टसत्वान्) **हिंसक जन्तुओं को शिक्षा प्रदान करते हुए से** (दावम्) **वन में** (विचचार) **घूम रहे थे।**

भावार्थ--नन्दिनी नामक गाय का अनुसरण करते हुए राजा लतावृक्षादिबहुल वन में विचरण कर रहा था। इसलिये **उसके बालों** में लताओं के टेढ़े-मेढ़े रेशे उलझ गये थे—अत: ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उसके बाल उन लता-तन्तुओं से गूंथे हुए हों। ऐसे केशों से युक्त वह चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से युक्त धनुष को हाथ में धारण किये हुए राजा वन में भ्रमण करता हुआ ऐसा प्रतीत होता था कि मानो मुनि वसिष्ठ की गाय की रक्षा के बहाने वह वन के सिंह, व्याघ्रादि हिंसक प्राणियों को शिक्षा देता हुआ वन में विचरण कर रहा हो।

अलङ्कार—इसमें "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—उद्ग्रथितै:— उद् + ग्रथ + इट् (इ) + क्त (**तृतीया बहुवचन का** रूप)। **प्रतानै:**--प्र + तन् + घञ्। **अधिज्यधन्वा**--अधि + ज्या + धनुष + अनङ्। **अपदेशात्**—अप् + दिश् + घञ् (अ) । गुण अपदेश:—(**पंचमी विभक्ति** का एकवचन का रूप)। **विनेष्यन्**—वि + नी + लृट् लकार (स्य) **शतृ** (अत)। **दावम्**--यहाँ 'अकर्मकधातुभिर्योगे देश: कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च **कर्मसंज्ञक** इति वाच्यम्" वार्तिकसूत्र से कर्म-संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

समास—लताप्रतानोद्ग्रथितै:—लतानां प्रतानानि तै: उद्ग्रथिता: तै:।

अधिज्यधन्वा—अधिगता ज्या यस्मिन् तत् अधिज्यम् धनुः यस्य सः (बहुव्रीहि)। **मुनिहोमधेनोः**—होमार्थ धेनुः (मध्यम पदलोपी समास) होमधेनुः, मुनेः होमधेनुः (षष्ठी तत्पुरुष) मुनिहोमधेनुः तस्याः। **रक्षापदेशात्**—रक्षायाः अपदेशात् इति रक्षापदेशात्। **वन्यान्**—वने भवाः वन्याः, तान्। **दुष्टसत्त्वान्**—दुष्टाश्च ते सत्त्वाः इति दुष्टसत्त्वाः तान (कर्मधारय)।

टिप्पणियाँ—लताप्रतापनोग्रद्‌थितैः—लताओं के टेढ़े-मेढ़े रेशों से गुंथे हुए। **अधिज्यधन्वा**—धनुष की प्रत्यञ्चा को (डोरी को) चढ़ाये हुए—प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष से युक्त। **मुनिहोमधेनोः**—वसिष्ठ मुनि को होम-द्रव्यों को देने वाली गौ के। मुनि की गाय हवन (यज्ञीय) सम्बन्धी घृत, दूध आदि दिया करती थी। **रक्षापदेशात्**—रक्षा करने के बहाने से, अपदेश—बहाना। **वन्यान्**—वन में उत्पन्न होने वाले—जंगली। **दुष्टसत्त्वान्**—दुष्ट जीवों को—[सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों को। **विनेष्यन्**—शिक्षा प्रदान करता हुआ। **इव**—सा, सदृश। **दावम्**—वन में, जंगल में। **विचचार**—घूमा, विचरण करता था।

उक्त श्लोक में वर्णित राजा की अनन्य मन के साथ की गई गौ की सेवा दर्शनीय है। सम्राट् होने पर भी उसे अपने शरीर की कोई चिन्ता नहीं है; यहाँ तक कि उसके केशों में अनेक लता-तन्तु उलझ गये हैं। परन्तु उसे उनका कोई ध्यान भी नहीं है।

प्रसङ्ग—राजा की प्रभावशालिता से प्रभावित वृक्ष, पक्षी आदि भी उसका स्वागत करते हैं तथा उसकी जय-जयकार बोलते हैं—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य, पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥९॥

अन्वयः—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य पार्श्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दं उदीरयामासुः इव ॥९॥

संस्कृत-व्याख्या—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य = विसृष्टाः त्यक्ताः पार्श्वानुचराः समीपवर्त्तिसेवकाः येन तस्य, पाशभृता = वरुणेन, समस्य = तुल्यस्य, तस्य = राज्ञः दिलीपस्य, पार्श्वद्रुमाः = समीपवर्तिवृक्षाः, उन्मदानाम् = उत्कटमदयुक्तानाम्, वयसाम् = पक्षिणाम्, विरावैः = शब्दैः कूजनैरित्यर्थः, आलोकशब्दम् = जयशब्दम् ["आलोको जयशब्दः स्याद्" इति विश्वः], उदीरयामासुः इव =

उच्चारयामासुः इव अवदन्—इवेत्यर्थः [यथा प्रासादे सेवकाः राजानं मलंग-ध्वनिभिः संवर्द्धयन्ति स्म तथा वनेऽपि तस्य समीपवर्त्तिनः वृक्षाः वरुणवत् प्रभावशालिनं तं राजानं मत्तपक्षिकुलकूजितरूपेण जयशब्देन संवर्द्धयामासुरिति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(विसृष्टपार्श्वानुचरस्य) **जिसने अपने समीपस्थ सभी सेवकों को हटा दिया था ऐसे** (पाशभृता) **वरुण के** (समस्य) **सदृश प्रभावशाली** (तस्य) **उस राजा दिलीप के** (पार्श्वद्रुमाः) **समीपस्थ** (आस-पास विद्यमान) **वृक्षों ने** (उन्मदानाम्) **उत्कट मद वाले** (वयसाम्) **पक्षियों के** (विरावैः) **शब्दों के द्वारा** (आलोकशब्दम्) **जय शब्द का** (उदीरयामासुः इव) **उच्चारण सा किया।**

भावार्थ—गो सेवा में संलग्न राजा दिलीप ने अपने समीपस्थ जय-जयकार करने वाले सभी सेवकों को पहले ही वापिस कर दिया था और वे एकाकी ही गो सेवा-रत थे। एकाकी होने पर भी वे वरुण देवता के सदृश प्रभावशाली थे। उनके तेज से वन के वृक्षादि बड़े प्रभावित थे। अतएव उन पर बैठे हुये पक्षियों के कूजन के माध्यम से वे राजा की जय-जयकार बोल रहे थे।

अलङ्कार—इस श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार स्पष्ट ही है।

व्याकरण—**विसृष्ट**—वि + सृज् + क्त। **पाशभृता**—पाश + भृ + क्विप्। **विरावैः**—वि + रु (शब्दे) घञ् (भावे) = विरावाः, तैः।

समास—**विसृष्टपार्श्वानुचरस्य**—विसृष्टाः पार्श्वानुचराः येन सः तस्य। **पाशभृता**—पाशं बिभर्तीति पाशभृत् तेन पाशभृता। **पार्श्वद्रुमाः**—पार्श्वयोः द्रुमाः इति पार्श्वद्रुमाः। **उन्मदानाम्**—उत्कटः मदः येषां तेषाम्। **आलोकशब्दम्**—आलोकस्य शब्दः, तम्।

टिप्पणियाँ—**विसृष्टपार्श्वानुचरस्य**—जिसने अपने इधर-उधर (दोनों ओर) चलने वाले सेवकों को छोड़ दिया था। **पार्श्व**—आस-पास (अगल-बगल)। **पार्श्वद्रुमाः**—आस-पास (अगल-बगल) के वृक्ष। **पाशभृता**—पाश को धारण करने वाले 'वरुण'। **समस्य**—तुल्य, सदृश। **उन्मदानाम्**—उत्कट मद वाले मतवाले, यह 'वयसाम्' का विशेषण है। **विरावैः**—शब्दों के द्वारा। **आलोक-**

शब्दम्––जय शब्द । "आलोको जयशब्दः स्यात्" इति विश्वः । **उदीरयामासु**–उच्चारण कर रहे थे, बोल रहे थे ।

विशेष—इस श्लोक से लेकर चौदहवें श्लोक तक वन के वृक्ष, वायु आदि द्वारा राजा को जो वैभव प्राप्त हुआ है, उसी का वर्णन है । यद्यपि राजा शहरी साज-सज्जा से रहित है, किन्तु फिर भी नैसर्गिक तेज के कारण उसे वही गौरव वन में भी प्राप्त हो रहा है । वस्तुतः राजा सर्वत्र राजा ही है । उपर्युक्त श्लोक में पार्श्वानुचरों का कार्य पार्श्वद्रुमों द्वारा सम्पन्न किये जाने का वर्णन प्रस्तुत ही है । □

प्रसङ्ग—वन की लतायें भी राजा का स्वागत करने में संलग्न है—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं, तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन् बाललताः सूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥१०॥

अन्वयः—मरुत्प्रयुक्ताः बाललता आरात् अभिवर्त्तमान मरुत्सखाभ अर्च्यं तम् प्रसूनैः पौरकन्याः आचारलाजैः इव अवाकिरन् ॥१०॥

संस्कृत-व्याख्या—मरुत्प्रयुक्ताः = मरुता वायुना प्रयुक्ताः = प्रेरिताः, बाललताः = कोमलवल्लर्यः, आरात् = समीपे, अभिवर्त्तमानम् = विद्यमानम्, मरुत्सखाभम् = मरुतः वायोः सखा, मित्रं इति मरुत्सखः अग्निः । तस्य आभा इव आभा यस्य तम् मरुतसखाभम् = अग्निसदृशतेजस्विनम्, अर्च्यम् = पूज्यम्, तम् = दिलीपम्, प्रसूनैः = पुष्पैः, पौरकन्याः = नागरिकबालाः, आचारलाजैः —मंगललाजैः इव, अवाकिरन् = अभिवर्षयामासुः । [पवनान्दोलिताः कोमललता स्वसमीपे विचरन्तं अग्निसदृशतेजस्विनं दिलीपं तथैव कुसुमैः अभिवर्षयामासु यथा पुरबालाः स्वागतार्थं कञ्चित् महापुरुषं आचारलाजैः अभिवर्षन्तीति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(मरुत्प्रयुक्ताः) **वायु द्वारा संचालित** (बाललताः) **छोटी-छोटी कोमल लताओं ने** (आरात्) **अपने समीप में** (अभिवर्त्तमानम) **विद्यमान** (मरुत्सखाभम्) **अग्नि के समान तेजस्वी** (अर्च्यम) **पूजनीय** (तम्) **उस राजा दिलीप के ऊपर** [उसी प्रकार उसके स्वागत में] (पुष्पैः) **फूलों को** (अवाकिरन्) **बरसाया कि** (इव) **जिस प्रकार** (पौरकन्याः) **नगरनिवासियों की कन्यायें किसी महापुरुष के स्वागत में** (आचारलाजैः) **मांगलिक धान के लावों** [खीलों] **को** (अवाकिरन्) **बरसाया करती हैं ।**

भावार्थ—पुरातन काल में यह शिष्टाचार था कि जब कोई राजा अथवा महान् पुरुष किसी नगर में जाया करता था, तो उसके स्वागत में नागरिकों की कन्यायें धान के लावों (खीलों) की वर्षा किया करती थीं। इसी रूप में राजा का स्वागत भी वन की कोमल लताओं द्वारा किया गया। उन्होंने अपने समीप में पहुँचे हुये राजा दिलीप के ऊपर (उनके स्वागतार्थ) पुष्पों की वर्षा की।

अलङ्कार—कोमल लताओं के साथ नागरिक कन्याओं का तथा पुष्पों के साथ खीलों का सादृश्य वर्णित होने के कारण यहाँ "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**प्रयुक्ताः**—प्र + युज् + क्त (त)। यहाँ ज् के स्थान पर ग् तथा पुनः ग् के स्थान पर क् हो जाता है।) **अभिवर्त्तमानम्**—अभि + वृत् + शानच्। **अर्च्यम्**—अर्च् + यत् (य) [द्वितीया विभक्ति का एकवचन का रूप]।

समास—**मरुत्प्रयुक्ताः**—मरुता वायुना प्रयुक्ताः इति मरुत्प्रयुक्ताः। **बाललताः**—बालाश्च ताः लताः इति बाललताः (कर्मधारय) अथवा बाला इव लताः बाललताः (उपमित समास)। **मरुत्सखाभम्**—मरुतः सखा मरुत्सखः तमिवाभातीति मरुत्सखाभः तम् (उपपद समास) अथवा मरुत्सखस्य आभा इव आभा यस्य तम् (बहुव्रीहि समास)। **पौरकन्याः**—पुरे भवाः पौराः, तेषां कन्याः पौरकन्याः अथवा पौराश्च ताः कन्याः पौरकन्याः (कर्मधारय)। **आचारलाजैः**—आचारार्थं लाजा आचारलाजाः तैः (मध्यमपदलोपी समास)।

टिप्पणियाँ—**मरुत्प्रयुक्ता**—वायु के द्वारा हिलायी डुलाई जाती हुई [अथवा वायु द्वारा सचालित]। **बाललता**—छोटी-छोटी सुकोमल लतायें। **मरुत्सखाभम्**—वायु के मित्र अग्नि के सदृश देदीप्यमान अथवा तेजस्वी। **अर्च्यम्**—पूजनीय, पूज्य : **आरात्**—समीप में—"आराद् दूरसमीपयोः" इत्यमरः। **अभिवर्त्तमानम्**—विद्यमान, उपस्थित। **पौरकन्याः**—नगरवासियों की कन्यायें। **आचारलाजैः**—शिष्टाचार की दृष्टि से स्वागतार्थ फेंके जाने वाले लावे (खील)। □

प्रसङ्ग—वन में हरिणियाँ भी राजा की ओर निःशंक भाव से देख रही हैं:—

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णाम्, प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

अन्वयः—[मृगीणाम्] विशङ्कैः अन्तःकरणैः धनुर्भृतः अपि अस्य दयार्द्रभावम् आयाख्यातम्, वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं आपुः ॥११॥

संस्कृत व्याख्या—[मृगीणाम्], विशङ्कैः=भयरहितैः, अन्तःकरणैः=हृदयैः, धनुर्भृतः=धनुर्धारिणः, अपि, अस्य=दलीपस्य, दयार्द्रभावम्=दयया कृपारसेन आर्द्रो भावो अभिप्रायो यस्य तत्, आख्यातम्=प्रकटीकृतम्, [राज्ञः शरीरे दयायुक्तं हृदयं वर्त्तते इति सूचितमित्यर्थः।]; [एतादृशस्य तस्य राज्ञः वपुः=शरीरम्। विलोकयन्त्यः=पश्यन्त्यः, हरिण्यः=मृग्यः, अक्षणाम्=नेत्राणाम् प्रकामविस्तारफलम्=प्रकामं यथेष्टं विस्तारस्य विशालतायाः फलम्। आपुः=प्राप्नुवन्। [धनुर्धारिणं दिलीपं आयान्तमवलोक्य हरिणीनां मनसि: किञ्चिदपि भयं न जज्ञे। अतएव ताभिः ज्ञातं यदस्य हृदयं दया विद्यते, अतः भयावसरः नास्ति। तदनन्तरं हरिण्यः राज्ञः मनोहरम् शरीरं पश्यन्त्यः स्वनेत्राणाम् विशालतायाः सफलतामापुः—इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—[मृगीणां] **हरिणियों के** (विशङ्कैः) **भयरहित** (अन्तःकरणैः) **हृदयों ने** (धनुर्भृतः अपि) **धनुष को धारण किये हुए होने पर भी** (अस्य) **इस राजा दिलीप के** (दयार्द्रभावम्) **दयापूर्ण भाव को** (आख्यातम्) **प्रकट कर दिया था**। [अर्थात् हरिणियों के शंकारहित हृदयों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यद्यपि राजा दिलीप धनुष धारण किये हुए हैं किन्तु फिर भी उनका हृदय दया से परिपूर्ण है।] **इस प्रकार के दयासम्पन्न हृदय वाले राजा ने** (अक्षणाम् **अपनी आँखों के** (प्रकामविस्तारफलम्) **अत्यन्त विशाल होने का फल** (आपुः) **प्राप्त कर लिया**।

भावार्थ—राजा दिलीप धनुर्धारी थे, अतः वन के सभी जन्तुओं को उनसे भयभीत रहना चाहिये था, विशेषकर कोमलहृदया हरिणियों को। इसके विपरीत हरिणियाँ तनिक भी भयभीत नहीं हुयी, उनके निर्भीक हृदय ने यह स्पष्ट कर दिया था कि राजा का हृदय दया से परिपूर्ण है, अतएव ऐसे दयालु राजा के शरीर को अपने निर्निमेष नेत्रों से देखकर हरिणियों ने नेत्रों की सुन्दरता एवं विशालता का फल प्राप्त कर लिया था।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है।

व्याकरण—धनुर्भृतः—धनुष+भृ+क्विप्। तुक् आगम् होकर—धनुर्भृत् (षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप)। **आख्यातम्**—आ+ख्या+क्त (त)। **विलोकयन्त्यः**—वि+लोक+णिच् (इ)+शप् (अ) शतृ (अत्)+ङीप्। **विस्तार**—वि+स्तृ+घञ्।

समास—धनुर्भृतः—धनुः बिभर्ति, इति तस्य (कृदन्त उपपद समास)। **विशंकैः**—विगता शङ्का यस्मात् तत् विशङ्कम् (बहुव्रीहि) तैः। **दयार्द्रभावम्**—दयया आर्द्रो भावो यस्य तत्। **प्रकामविस्तारफलम्**—प्रकामं विस्तारः—प्रकामविस्तारः तस्य फलम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—धनुर्भृतः—धनुष को धारण किये हुये। यह 'अस्य' का विशेषण है। **अस्य**—इस राजा दिलीप का। **विशंकैः**—शंकारहित, निर्भीक। यह 'अन्तःकरणैः' का विशेषण है। **अन्तःकरणैः**—हृदय से, मन से अथवा चित्त से। **दयार्द्रभावम्**—दया से कोमल है, भाव जिसका—अर्थात् दया के कारण कोमल भावनाओं से युक्त अथवा दयालु। **आख्यातम्**—प्रकट कर दिया, कहा, बतला दिया। हरिणियों के निडर हृदयों ने यह स्पष्ट कर दिया कि राजा का हृदय दया से परिपूर्ण है। **विलोकयन्त्यः**—देखती हुई। यह "हरिण्य" का विशेषण है। **अक्ष्णाम्**—आँखों के। **प्रकामविस्तारफलम्**—विस्तृत होने का फल, विशाल होने का फल। **आपुः**—पा लिया, प्राप्त कर लिया।

आँखों के विशाल होने का फल यही हुआ करता है कि ऐसी आँखों के द्वारा कोई सुन्दर वस्तु देखी जा सके। हरिणियों ने निर्भीकता के साथ राजा के दयालु शरीर को पूर्ण रूप से विकसित नेत्रों से देखा। अतः उनकी आँखों के बड़े होने का फल उन्हें प्राप्त हो गया। □

प्रसङ्ग—वनदेवता भी राजा दिलीप का यशोगान कर रहे थे—

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुंजेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥१२॥

अन्वयः—सः मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं कुञ्जेषु वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव ॥१२॥

संस्कृत-व्याख्या—सः राजा दिलीपः मारुतपूर्णरन्ध्रैः=वायुभरितछिद्रैः, कूजद्भिः=शब्द कुर्वद्भिः कीचकैः=वेणुविशेषैः, आपादितवंशकृत्यम्=सम्पादितवेणुवाद्यकार्यं यथा स्यात्तथा कुंजेषु लतागृहेषु, वनदेवताभिः=वनदेवीभिः उच्चैः-तारस्वरेण, उद्गीयमानम्—स्तूयमानम्, स्वं=निजं, यशः=कीर्तिम्, शुश्राव=श्रुतवान्। [तस्मिन् वने वनदेवताः मंगलगायिकाः इव राज्ञः यशः गायन्त्यः तस्य

कर्णसखं चक्रिरे । तत्रोत्पन्नैः कीचकैः वायुपूर्णरन्ध्रतया मधुरध्वनिभिः तासां गानस्य अनुरञ्जकं वंशीवाद्यकार्यं सम्पादितमितिभावः । ।

हिन्दी-व्याख्या—(सः) राजा दिलीप ने (मारुतपूर्णरन्ध्रैः) **वायु से भरे छिद्रों वाले** (कूजद्भिः) **शब्द करते हुये** (कीचकैः) **'कीचक' नाम वाले विशिष्ट बाँसों के द्वारा** (आपादितवंशकृत्यम्) **जो वंशी बजाने का कार्य कर रहे थे,** (कुञ्जेषु) **लतागृहों में** (वनदेवताभिः) **वन देवताओं द्वारा** (उच्चैः) **ऊँचे स्वरों में** (उद्गीयमानम्) **गाये जाते हुये** (स्वं यशः) **अपने यश को** (शुश्राव) **सुना ।**

भावार्थ—नन्दिनी का अनुगमन करते हुये राजा ने उस वन में स्थित लतागृहों में वन देवताओं द्वारा उच्च स्वरों में गाये जाते हुये अपने यश को सुना । इस गान में 'कीचक' नामक विशेष प्रकार के बाँस जो कि वायु से अपने छिद्रों के भर जाने के कारण, शब्द कर रहे थे, मानो बाँसुरी-वादन का कार्य सम्पादन कर रहे थे ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है । लतागृहों में जो कलरव हो रहा था, वही मानो वनदेवियों द्वारा गाया जाने वाला राजा का यशोगान था तथा वायु के भर जाने से जो बाँसों से शब्द निकल रहा था वही मानो उस गान में बजने वाली वंशी की ध्वनि थी । इस स्थल पर उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पद का प्रयोग नहीं किया गया है । अतः यहाँ पर "गूढोत्प्रेक्षा' ही समझना चाहिये । लक्षण—"इवादिकपदाभावे—गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते —चन्द्रालोक ।

व्याकरण—**कूजद्भिः**—कूज् + शतृ (अत्) [तृतीया बहुवचन] । **आपादित**—आ + पद् + णिच् + क्त (त) । **उद्गीयमानम्**—उत् + गै + (गा) यक् + शानच् (आन) + मुक् का आगम "आ" को 'ई' होकर । **शुश्राव**—श्रु + लिट् (प्रथम पुरुष, एकवचन) ।

समास—**मारुतपूर्णरन्ध्रैः**—मारुतेन पूर्णानि (भरितानि) रन्ध्राणि येषां ते-तैः । (बहुव्रीहि समास) । **आपादितवंशकृत्यम्**-आपादितं वंशस्य कृत्यं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि समास) । **वनदेवताभिः**—वनानां देवताः वनदेवताः ताभिः इति । यहाँ 'अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया से विभक्ति हुई है ।

टिप्पणियाँ—**मारुतपूर्णरन्ध्रैः**—वायु से परिपूर्ण छिद्रों वाले । रन्ध्र—

छिद्र। "कीचकैः" का विशेषण है। कीचकैः='कीचक' एक विशिष्ट प्रकार का बाँस होता है जो वायु से हिलाये जाने पर शब्द किया करता है। "वेणवः कीचकास्ते स्युर्येस्वनन्त्यनिलोद्धताः" इत्यमरः ॥ कूजद्भिः—शब्द करते हुये। आपादितवंशकृत्यम्—जिस (राजा के यशोगान) में वीणा-वदान का कार्य कीचकों (विशेष प्रकार के बाँसों) द्वारा सम्पन्न किया जा रहा था। 'कीचक' नामक बाँसों में जब वायु भर जाया करती है, तब वे शब्द किया करते हैं। वन में निकलते हुये कीचकों के इस शब्द से ऐसा होता था कि मानों बाँसुरी ही बज रही हो। कुञ्जेषु—लताकुञ्जों अथवा लतागृहों में। वनदेवताभिः—वन देवताओं द्वारा। उच्चैः—ऊँचे स्वरों में। उद्गीयमानम्—गाये जाते हुये। वन-देवताओं द्वारा राजा की कीर्ति का गान लतागृहों से निकलने वाले कलरव के रूप में किया जा रहा था। उस गान में बंशी-वादन का कार्य 'कीचक' नामक बाँसों द्वारा सम्पन्न किया जा रहा था। शुश्राव—सुना। □

प्रसङ्ग—वन में गौ के पीछे-पीछे विचरण करते हुये राजा दिलीप की सेवा वन की शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायु द्वारा की जा रही थी—

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥१३॥

अन्वयः—गिरिनिर्झराणां तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनः अनातपत्रं आतपक्लान्तं आचारपूतं तं सिषेवे ॥१३॥

संस्कृत-व्याख्या—गिरिनिर्झराणां गिरिषु पर्वतेषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् "[वारिप्रवाहो निर्झरो झरः" इत्यमरः| तुषारैः=जलबिन्दुभिः, पृक्तः=सम्पृक्तः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी=अनोकहानां वृक्षाणां आकम्पितानि ईषत्कम्पितानि यानि पुष्पाणि कुसुमानि तेषां गन्धः आमोदः अस्यास्तीति एवंविधः [शीतलो मन्दः सुगन्धः] पवनः=वायुः, अनातपत्रम्=छत्ररहितम्, आतपक्लान्तम्=आतपेन घर्मेन क्लान्तं पीडितम्, आचारपूतम्=आचारेण नियमपालनेन पूतं पवित्रम्, तम्=राजानम्, सिषेवे=सेवितवान् [अर्थात् पर्वतीयजलप्रवाहेभ्यः सीकरानादाय ईषत्कम्पितेभ्यः तत्पुष्पेभ्यः गन्धमाहरन् मन्दः पवनः छत्ररहितं घर्मसंतप्तं सदाचारपूतं तं दिलीपं सेवितवानित्यर्थः।]

हिन्दी-व्याख्या—(गिरिनिर्झराणाम्) **पहाड़ी झरनों के** (तुषारैः) **जल-बिन्दुओं से** (पृक्त) **आर्द्र** [गीले] **तथा** (अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी) **कुछ-कुछ हिलते हुये फूलों की गन्ध से सुगन्धित** [शीतल, मन्द, सुगन्ध] (पवनः) **वायु ने** (अनातपत्रम्) **छत्ररहितम्** (आतपक्लान्तम्) **धूप से पीड़ित** (आचारपूतम्) **व्रत के आचरण से पवित्र** (तम्) **उस दिलीप की** (सिषेवे) **सेवा की।**

भावार्थ—जब राजा दिलीप गाय के पीछे-पीछे वन में घूम रहे थे उस समय उनके पास छत्र न था। इस कारण वे धूप से पीड़ित हो रहे थे। गो-सेवाव्रत में संलग्न राजा की ऐसी दशा को देखकर पर्वतीय झरनों के जल-कणों से युक्त, पुष्पों की सुगन्धि से सुगन्धित [शीतल मन्द तथा सुगन्धित] वायु ने सेवा की। [अर्थात् शीतल मन्द तथा सुगन्धित वायु ने राजा दिलीप के तत्कालीन कष्टों को दूर किया]।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'परिकर' अलङ्कार है। लक्षण—अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे"।

व्याकरण—**निर्झर**—नि + झृ + अप्। **पृक्तः**—पृच् + क्त (त)। **आतप-क्लान्तम्**—आ + तप् + घ। क्लम् + क्त—क्लान्त। **आचार**—आ + चर् + घञ्। **सिषेवे**—सेव् + लिट् (प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप)।

समास—**गिरिनिर्झराणाम्**—गिरिषु निर्झराः इति गिरिनिर्झराः तेषाम्। **अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी**—आकम्पितानि च तानि पुष्पाणि इति आकम्पित-पुष्पाणि, अनोकहानां आकम्पितपुष्पाणि इति अनोकहाकम्पितपुष्पाणि तेषां गन्धः इति अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धः (षष्ठी तत्पुरुष) सः अस्ति अस्य इति। **आतपक्लान्तम्**—आतपेन क्लान्तं इति आतपक्लान्तम् (तृतीया तत्पुरुष)। **अनातपत्रम्**—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्, न विद्यते आतपत्र यस्य सः तम् (बहुव्रीहि समास)। **आचारपूतम्**—आचारेण पूतः इति आचारपूतः तम्।

टिप्पणियाँ—**गिरिनिर्झराणाम्**—पर्वतीय झरनों के। **तुषारैः**—जलकणों अथवा जलबिन्दुओं से। **पृक्तः**—सिञ्चित, आर्द्र, गीला। **अनोकहाकम्पित-पुष्पगन्धी**—वृक्षों के कुछ-कुछ हिलते हुये पुष्पों की गन्ध से सुगन्धित। यह "पवनः" का विशेषण है। **आतपक्लान्तम्**—धूप से पीड़ित, धूप में चलने के कारण पसीने एवं थकावट से युक्त। **अनातपत्रम्**—छाते से रहित। "छत्रं चात-

पत्रम्" इत्यमरः । आचारपूतम्—अपने सदाचार से पवित्र व्रत सम्बन्धी नियमों का पालन करने से पवित्र शरीर एवं अन्तःकरण वाला । सिषेवे—सेवा की । □

प्रसङ्ग—वन में [राजा के] प्रवेश करने से राजा का वन पर क्या प्रभाव पड़ा—

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे, तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

अन्वयः—गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने, वृष्ट्या विना अपि, दवाग्निः शशाम । फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत्, सत्त्वेषु अधिकः ऊनं न बबाधे ॥१४॥

संस्कृत-व्याख्या—गोप्तरि = रक्षके, तस्मिन् = दिलीपे, वनम् = अरण्यम्, गाहमाने = प्रविशति सति वृष्ट्या = वर्षणेन, विना अपि, दवाग्निः = वनाग्निः ["दवदावौ वनानले" इति हैमः], शशाम शान्ति प्राप्तः । फलपुष्पवृद्धिः = फलकुसुमसमृद्धिः, विशेषा-अतिशयिता, आसीत् । सत्त्वेषु = जन्तुषु, मध्ये, अधिकः = प्रबलः व्याघ्रादिरूपः, ऊनम् = दुर्बलं हरिणादिकम्, न बबाधे = न पीडयामास [राजा दिलीपः एतादृशः प्रभावशाली आसीत् यत् रक्षणकार्यसंलग्ने तस्मिन् राजनि वनं प्रविशति सत्येव वर्षणं विनैव वनाग्निः शशाम । लताः वृक्षाश्च महता बाहुल्येन फलानि पुष्पाणि च धारयामासुः । बलिष्ठः व्याघ्रादि-जन्तु दुर्बलं हरिणादिकं पीडयितुं समुत्सेहे— इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(गोप्तरि) रक्षक (तस्मिन्) उस दिलीप के (वनम्) वन में (गाहमाने) प्रवेश करने पर (वृष्ट्या) वर्षा के बिना (विना अपि) बिना भी (दवाग्निः) वन की अग्नि (शशाम) शान्त हो गई (फलपुष्पवृद्धिः) फल तथा फूलों की वृद्धि भी (विशेषा) अत्यधिक रूप में (आसीत्) हो गई । (सत्त्वेषु) वन के प्राणियों में भी (अधिकः) अधिक शक्तिशाली [व्याघ्र आदि] जन्तु ने [ऊनम्] दुर्बल [हरिणादि को] को (न बबाधे) नहीं सताया ।

भावार्थ—रक्षा में संलग्न राजा दिलीप इतना प्रभावशाली था कि उसके वन में प्रवेश करते ही वर्षा के बिना ही वन की अग्नि (दावानल) शान्त हो गई । लता और वृक्ष अत्यधिक रूप से फल तथा पुष्पों से समन्वित हो गये । व्याघ्र आदि किसी भी बलशाली वन के प्राणी ने हरिण आदि दुर्बल प्राणियों

को सताने की बात सोची तक नहीं अर्थात् सभी प्राणी परस्पर प्रेमपूर्वक विचार करने लगे।

व्याकरण—गोप्तरि—गुप्+तृप् (तृ), गुण होकर गोप्तृ सप्तमी विभक्ति के एकवचन में। **गाहमाने**—गाह+शानच् (आन्)+शप् (अ)+मुक (म) गाहमानः सप्तमी एकवचन। **वृष्टया**—वृष्+क्तिन् विना के योग्य में तृतीया विभक्ति]। **विशेषा**—वि+शिष्+घञ् (अ), गुण+टाप्। **सत्त्वेषु**—यहाँ "यतश्च निर्धारणम्" से सप्तमी विभक्ति हुई है। जहाँ किसी वस्तु को अपने समुदाय की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विशिष्टता दिखाई जाती है, वहाँ सप्तमी विभक्ति होती है। **शशाम**—शम्+लिट् (प्रथम पुरुष एकवचन का रूप)।

समास—दवाग्निः—दवस्य अग्नि (षष्टी तत्पुरुष)। **फलपुष्पवृद्धिः**—फलानि च पुष्पाणि फलपुष्पाणि (द्वन्द्व समास), तेषां वृद्धिः इति फलपुष्पवृद्धिः (षष्ठी तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—गोप्तरि—रक्षक, रक्षा करने वाले। **गाहमाने**—प्रवेश करने पर। **वृष्टया विना अपि**—वर्षा के बिना ही। **शशाम**—शान्त हो गई। **दवाग्निः**—दावानल, वन की अग्नि। **फलपुष्पवृद्धिः**—फल तथा पुष्पों की वृद्धि। लता और वृक्ष में फल-फूल अत्यधिक रूप से आने लगे थे। **विशेषा**—अत्यधिक, अधिक मात्रा (परिमाण) में। **सत्त्वेषु**—अन्य प्राणियों में। **अधिकः**—बलवान्। **ऊनम्**—दुर्बल (हरिण, इत्यादि) प्राणियो को। **बबाधे**—सताया, पीड़ित किया। □

प्रसङ्ग—सायंकाल के समय नन्दिनी अपने निवास स्थान वसिष्ठ आश्रम की ओर वापिस लौट रही है—

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

अन्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा मुनेः धेनुः च दिगन्तराणि सञ्चारपूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ॥१५॥

संस्कृत-व्याख्या—पल्लवरागताम्रा=पल्लवस्य किसलयस्य रागः वर्णः इव ताम्रा अरुणा, पतङ्गस्य=सूर्यस्य, प्रभा=कान्तिः, मुनेः=वसिष्ठस्य, धेनुः

च=गौः [नन्दिनीत्यर्थः] च, दिगन्तराणि=दिशामवकाशान्, सञ्चारपूतानि=सञ्चारेण भ्रमणेन पूतानि पवित्राणि, कृत्वा=विधाय, दिनान्ते=दिनावसाने-सायंकाले, निलयाय=[सूर्यकान्तिपक्षे=अस्तमयाय], वसिष्ठाश्रमाय, गन्तुम्=यातुम्, प्रचक्रमे=प्रक्रान्तवती [यथा सायंकाले नवकिसलयावर्णारुणा सूर्यप्रभा स्वपरिभ्रमणेन दिगवकाशान् निर्मलान् कृत्वा अस्ताचलं गमनाय प्रवृत्ता भवति तथैव पल्लवरागवत् ताम्रवर्णा नन्दिनी अपि निजगमनेन दिगन्तराणि पवित्री-कुर्वाणा वसिष्ठाश्रमं प्रति यातुं प्रवृत्ता बभूव—इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(पल्लवरागताम्रा) **नवीन कोमल पत्तों के सदृश अरुण** (ईषद्-रक्त) **वर्ण वाली** (पतङ्गस्य प्रभा) **सूर्य की कान्ति** (मुनेः धेनुः च) **और वसिष्ठ मुनि की गाय नन्दिनी** (दिगन्तराणि) **दिशाओं के अन्तराल-भागों को** (सञ्चारपूतानि) **अपने भ्रमण से पवित्र** (कृत्वा) **करके** (दिनान्ते) **सायंकाल** (निलयाय) (सूर्य की कान्ति के पक्ष में—अस्ताचल को जाने के लिये) **वसिष्ठ-आश्रम को जाने के लिये** (प्रचक्रमे) **प्रवृत्त हुई।**

भावार्थ—जैसे सायंकाल के समय सूर्य की अरुणवर्ण की कान्ति अपने अस्ताचलरूपी घर को जाने के लिये प्रवृत्त हुआ करती है, उसी प्रकार अरुण-वर्ण की शारीरिक शोभा से युक्त मुनि वसिष्ठ की गाय नन्दिनी भी अपने निवास स्थान (वसिष्ठ मुनि के आश्रम) को जाने के लिये प्रवृत्त हुई।

अलङ्कार—इस श्लोक में सूर्य की प्रभा तथा नन्दिनी, दोनों ही प्रस्तुतों का वर्णन अभीष्ट है तथा दोनों का स्वनिलयगमनरूप एक क्रियारूप धर्म से सम्बन्ध भी है, अतः यहाँ 'तुल्ययोगिता' नामक अलङ्कार है। **लक्षण**—'क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता'' ।

व्याकरण—प्रभा—प्र+भा (दीप्ति अर्थ वाला)+अङ् (अ)। **गन्तुम्**—गम्+तुमुन्। **प्रचक्रमे**—प्र+क्रम्+लिट (प्रथम पुरुष, एकवचन)। **सञ्चार**—(सम्+चर्+घञ्) (अ) उपधावृद्धि होकर। **पूत**—पूञ् (पवने)+क्त (त)। **निलयाय**—नि+ली+अच् (अ)—गुण—अयादेश—निलय चतुर्थी, एक-वचन।

समास—पल्लवरागताम्रा—पल्लवस्य रागः (तत्पुरुष समास), स इव ताम्रा इति पल्लवरागताम्रा (उपमित समास)। **दिगन्तराणि**—दिशामन्तराणि

इति दिगन्तराणि । **सञ्चारपूतानि**—सञ्चारेण पूतानि इति । **दिनान्ते**—दिनस्य अन्तः इति दिनान्तः तस्मिन् ।

टिप्पणियाँ—पल्लवरागताम्रा—नवीन पत्ते (कोंपल) के सदृश अरुणवर्ण वाली । यह मुनि की गाय तथा सूर्य की कान्ति (प्रभा) दोनों का विशेषण है दोनों ही नवीन किसलय के समान अरुण (कुछ-कुछ लाल) वर्ण की थीं **पतंगस्य**—सूर्य की पतंगः पक्षिसूर्ययोः—इति शाश्वतः] । **प्रभा**—कान्ति शोभा । **दिगन्तराणि**—दिशाओं के अन्तराल-(मध्यभाग) भागों को दिशाओं के बीच के प्रदेशों को । **सञ्चारपूतानि**—अपने गमन से पवित्र (करके) । **दिनान्ते** —दिन के अन्तिम समय में अर्थात् सायंकाल के समय । **निलयाय** —[सूर्य की प्रभा के पक्ष में—] निलय अर्थात् अस्ताचल की ओर जाने के लिये । [गाय नन्दिनी के पक्ष में—] अपने निवासस्थान (वसिष्ठ आश्रम) की ओर जाने के लिये । सूर्य की प्रभा अपने गृहरूपी अस्ताचल की ओर जाने के लिये प्रवृत्त हो रही है तथा गाय अपने निवास स्थान वसिष्ठ-आश्रम की ओर जाने के लिये प्रवृत्त हो रही है ।

प्रसङ्ग—गाय आगे-आगे चल रही है और राजा दिलीप उसके पीछे-पीछे इस भाँति वसिष्ठाश्रम की ओर लौटती हुयी गाय की शोभा कैसी प्रतीत हो रही है—

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सां तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

अन्वयः—मध्यमलोकपालः देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम् ताम् अन्वग् ययौ सतां मतेन तेन उपपन्ना सा विधिना (उपपन्ना) साक्षात् श्रद्धा इव बभौ ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या—मध्यमलोकपालः=मध्यमं लोकं भूलोकं पालयतीति मध्यमलोकपालः=भूपालः दिलीपः देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम्–देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजन यस्याः तादृशीम्, ताम्=धेनुम् नन्दिनीमित्यर्थः, अन्वग्=अनुपदम्, ययौ=जगाम । सताम्=सज्जनानाम् मतेन=सम्मान्येन, तेन=राज्ञा दिलीपेन, उपपन्ना=युक्ता, सा=धेनुः, विधिना =अनुष्ठानेन (उपपन्ना) साक्षात्=प्रत्यक्षा, श्रद्धा इव=आस्तिक्यबुद्धिरिव

बभौ = शुशुभे [वनात् वसिष्ठाश्रमं प्रति प्रत्यावर्त्तमानां नन्दिनीमनुगच्छता राज्ञा दिलीपेन सहिता सा धेनुः तथैव शोभितवती यथा धर्मानुष्ठानेन युक्ता श्रद्धा शोभते = इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(मध्यमलोकपालः) **पृथ्वी-लोक के पालनकर्त्ता राजा** दिलीप (देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम्) **देवता, पितर और अतिथियों के लिये यज्ञ, श्राद्ध, दानादि क्रियाओं को सिद्ध करने** वाली (ताम्) **उस गाय-नन्दिनी के** (अन्वग्) **अनुपद—पीछे-पीछे** (ययौ) **चले**। (सतां मतेन तेन) **सज्जनों द्वारा सम्मानित उस राजा दिलीप से** (उपपन्ना) **युक्त** (सा) **वह नन्दिनी** (विधिना-उपपन्ना) **धर्मानुष्ठान से युक्त** (साक्षात्) **प्रत्यक्ष** (श्रद्धा इव) **श्रद्धा के समान** (बभौ) **सुशोभित हुई** ।

भावार्थ—वन में वसिष्ठाश्रम की ओर लौटती हुई गाय के पीछे-पीछे राजा दिलीप चल रहे थे। उस समय दिलीप से अनुगम्यमान नन्दिनी उसी भाँति शोभा पा रही थी कि जिस प्रकार धर्मानुष्ठान से अनुगता श्रद्धा शोभा पाया करती है। [यदि धर्म-कर्म न किया जाय तो श्रद्धा फलवती नहीं हुआ करती है। श्रद्धा के साथ धर्मानुष्ठान किया जाना आवश्यक है]।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**मतेन**—मन् + क्त (त)—तृतीया एकवचन। **विधिना**—वि + धा + कि (इ) अकार लोप-विधि, तृतीया विभक्ति-एकवचन। **उपपन्ना**—उप + पद् + क्त (त), त को न, तथा धातु के भी द् को न आदेश + टाप्। **श्रद्धा**—श्रत् + धा + अङ् + टाप्। **बभौ**—भा + लिट् (प्रथमपुरुष एकवचन)।

समास—**मध्यमलोकपालः**—मध्यमश्चासौ लोकः मध्यमलोकः (कर्मधारय) पालयतीति मध्यमलोकपालः (उपपद समास)। **देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम्**—देवताश्च पितरश्च अतिथयश्च इति देवतापित्रतिथयः (द्वन्द्व) तेषां क्रियाः इति देवतापित्रतिथिक्रियाः ताः एव अर्थः यस्याः सा देवतापित्रतिथिक्रियार्था (बहुव्रीहि) ताम्।

टिप्पणियाँ—**मध्यमलोकपालः**—बीच वाले लोक (पृथ्वी) का रक्षक अर्थात् पृथ्वी का पालन करने वाला। ऊपर आकाश है तथा नीचे पाताल है—बीच में पृथ्वी है। **देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम्**—जो (गाय) देवता, पितर तथा

अतिथियों के सत्कार के योग्य सामग्री प्रदान किया करती थी। अन्वग्—पीछे-पीछे। **सतां मतेन**—सज्जनों द्वारा सम्मानित। **उपपन्ना**—युक्त, सहित, **विधिना**—अनुष्ठान से। ("विधिर्विधाने दैवेऽपि" इति चामरः) श्रद्धा—आस्तिक्य बुद्धि। जिस भाँति शास्त्र-सम्मत विधि से युक्त श्रद्धा (विश्वास शोभा पाती है, उसी भाँति सज्जन पुरुषों से सम्मानित उस राज के आगे-आगे गमन करती हुई गाय (नन्दिनी) शोभा पा रही थी— □

प्रसङ्ग—राजा, वन की सायंकालीन शोभा का अवलोकन करता हुआ वसिष्ठाश्रम की ओर गमन कर रहा है—

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥१७॥

अन्वयः—स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययौ॥१७॥

संस्कृत-व्याख्या—सः = राजा दिलीपः, पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि = अल्पजलगर्त्तेभ्यः निर्गतशूकरसमूहानि, आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि = आवासवृक्षात् प्रति — निवासतरून् प्रति उन्मुखाः बर्हिणाः मयूराः येषु तानि मृगाध्यासित शाद्वलानि = मृगैः हरिणैः अध्यासिताः अधिष्ठिताः शाद्वलाः शस्यश्यामदेशाः येषु तानि, श्यामायमानानि = कृष्णीभूतानि, वनानि = काननानि, पश्यन् = अवलोकयन्, ययौ = जगाम। स राजा स्वल्पजलाशयेभ्यः विनिर्गतानां शूकरसमूहानां, स्वनिवासवृक्षान् प्रति गन्तुमुत्सुकानां मयूराणां हरिणैः अधिश्रितानां शष्पैः हरितानां वनप्रदेशानां च श्यामतया सर्वत्र कृष्णवर्णानि वनानि पश्यन् वसिष्ठाश्रमं प्रति जगाम इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(सः) **वह राजा दिलीप** (पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि) **छोटे-छोटे जल के गड्ढों से बाहर निकलते हुए जंगली शूकरों से युक्त** (आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि) [सायकाल हो जाने के कारण] **अपने बसेरे के वृक्षों की ओर जाने के लिये उन्मुख मयूरों से युक्त** (मृगाध्यासितशाद्वलानि) **छोटी-छोटी हरित घास से युक्त हरे भरे प्रदेशों पर बैठे** हुए **मृगों से युक्त** (श्यामायमानानि) **अतएव** [अधिक हरित होने के **कारण**] **श्यामवर्ण के प्रतीत होने वाले** (वनानि) **वनों को** (पश्यन्) **देखता हुआ** (ययौ) **चला जा रहा था।**

भावार्थ—सायंकाल के समय जब राजा दिलीप गाय का अनुगमन करते हुये वसिष्ठ मुनि के आश्रम की ओर चले जा रहे थे, उस समय [सायंकाल हो जाने के कारण] वनों के छोटे-छोटे जल-पूर्ण गड्ढों से जंगली सुअरों के झुण्ड बाहर निकल रहे थे, मोर अपने बसेरे वाले वृक्षों की ओर जाने के लिये उन्मुख हो रहे थे [अर्थात् उस ओर मुख उठाये हुये थे।] छोटी-छोटी हरी-हरी घास से श्यामवर्ण के प्रदेशों पर हरिण आसीन थे, सायंकाल के कारण वन भी श्यामवर्ण के प्रतीत हो रहे थे। ऐसे वनों को देखता हुआ राजा वसिष्ठाश्रम की ओर जाने वाले मार्ग पर चला जा रहा था।

अलङ्कार—वर्न का स्वाभाविक चित्रण किये जाने के कारण इस श्लोक में "स्वभावोक्ति" अलङ्कार है।

व्याकरण—**उत्तीर्ण**—उद् + तृ + क्त (त)। **बर्हिणः**—बर्ह + इन। **अध्यासित**—अधि + आस् + क्त = इडागम, यण-आदेश अध्यासित। **शाद्वल**—शाद + ड्वलच्। **पश्यन्**—दृश् + शतृ (अत्)। **ययौ**—या + लिट्—प्रथमपुरुष एकवचन।

समास—**पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि**—वराहाणां यूथानि वराहयूथानि, पल्वलेभ्यः उत्तीर्णानि, पल्वलोत्तीर्णानि, पल्वलोत्तीर्णानि वराहयूथानि येषु तानि। **आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि**—बर्हाणि येषां सन्तीति बर्हिणः, आवासस्य वृक्षाः आवासवृक्षाः तान् प्रति उन्मुखाः बर्हिणः, येषु तानि। **मृगाध्यासितशाद्वलानि**—मृगैः अध्यासिताः शाद्वलाः येषु तानि। **श्यामायमानानि**—अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि।

टिप्पणियाँ—**सः**—वह राजा दिलीप। **पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि**—(वह वन जहाँ) जंगली सुअरों के समूह छोटे-छोटे जलाशयों (गड्ढों) से बाहर निकल रहे थे। दिन की गर्मी से परिश्रान्त होने के कारण जंगली सुअर तालाबों में अपने को शीतल बना रहे थे। सायंकाल हो जाने पर सभी, जलाशयों से बाहर निकल रहे थे। "वराहः शूकरो घृष्टिः" इत्यमरः। **आवासवृक्षोन्मुख-बर्हिणानि**—जिस वन में अपने-अपने बसेरे (निवास) वाले वृक्षों पर जाने के लिये मोर उत्सुक थे। शाम का समय था। अतएव मोर भी अपने-अपने रहने वाले वृक्षों पर जा बैठने के लिये उड़ रहे थे। **मृगाध्यासितशाद्वलानि**—वन

के वह स्थल कि जो सुकोमल घास से युक्त थे तथा जिन पर हरिण बैठे हुये थे। **श्यामायमानानि**— सायंकालीन अन्धकार से ढके होने के कारण जो वन श्याम वर्ण के प्रतीत हो रहे थे। **पश्यन्**—देखता हुआ। **ययौ**—गया, चला जा रहा था।

विशेष—कालिदास के प्रकृति-चित्रण का यह सुन्दर उद्धरण है। इसमें सायंकालीन वन्य-प्रकृति का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। □

प्रसङ्ग—स्तनों के भार को वहन करने वाली गौ (नन्दिनी) तथा शारीरिक भार को वहन करने वाले राजा दिलीप ने अपने मन्द-गमन से मार्ग को सुशोभित किया—

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥१८॥

अन्वय —गृष्टिः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्, नरेन्द्रः वपुषः गुरुत्वात्, उभौ अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं अलङ्चक्रतुः ॥१८॥

संस्कृत-व्याख्या—गृष्टिः = सकृत् प्रसूता गौः नन्दिनी, आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् = आपीनं ऊधः तस्य भारः तस्य उद्वहनं नयनं तस्मिन् प्रयत्नः प्रयासः तस्मात् कारणात्, नरेन्द्रः = राजा दिलीपः, वपुषः = शरीरस्य, गुरुत्वात् = आधिक्यात्—स्थौल्यात् च उभौ = नन्दिनीदिलीपौ, अञ्चिताभ्याम् = चारुभ्याम्, गताभ्याम् = गमनाभ्याम्, तपोवनोवृत्तिपथम् = तपसां तपश्चर्याणां वनमरण्यं तस्मात् आवृत्तेः परावर्त्तनस्य पन्थाः = मार्गस्तम्, अलंचक्रतुः = भूषितवन्तौ [सायंकाले तपोवनात् आवर्त्तमाना सकृत्प्रसूता नन्दिनी आपीनभारवहनहेतोः मन्दं मन्दं यथास्यात्तथा गच्छन्ती आसीत्, नृपः दिलीपश्चापि स्वशरीरस्थौल्यात् तथैव मन्दं मन्दमनुगच्छन् आसीत्। एवं तौ उभौ नन्दिनीदिलीपौ स्वकीयाभ्यां चारुभ्यां गमनाभ्यां तपोवनप्रत्यावर्त्तपथं अलङ्चक्रतुः।]

हिन्दी व्याख्या--(गृष्टिः) **एक बार की प्रसूता गौ नन्दिनी** (आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्) **अपने अयन** [थनों के ऊपर का स्थूल-भाग कि जो दूध देने वाले पशुओं के स्तनों के ऊपर हुआ करता है] **के बोझ को ढोने के प्रयास के कारण,** (नरेन्द्रः) [तथा] **राजा दिलीप** (वपुषः) **शरीर की** (गुरुत्वात्) **स्थूलता के** कारण; (उभौ) दोनों ने (अञ्चिताभ्याम्) अपने मन्द एवं दर्शनीय (गताभ्याम्)

गमनों से (तपोवनावृत्तिपथम्) **तपोवन से वापिस आने के मार्ग** को (अलङ्-चक्रतुः) **अलंकृत** [सुशोभित] **किया**।

भावार्थ—केवल एक वार की प्रसूता गौ नन्दिनी ने अपने अयन के बोझ को ढोने के कारण [तथा] राजा ने अपने शरीर की स्थूलता के कारण—दोनों ने अपने-अपने मन्द एवं अवलोकनीय गमनों द्वारा तपोवन से मुनि वशिष्ठ के आश्रम में वापिस आने के मार्ग को सुशोभित किया।

अलङ्कार—इस श्लोक में "सहोक्ति" अलङ्कार है। लक्षण—"सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः"।

व्याकरण—**गृष्टिः**—ग्रह् + क्तिच्। **गताभ्याम्**—गम् + क्त (त) [पंचमी विभक्ति द्विवचन]। **आवृत्ति**—आ + वृत + क्तिन्।

समास—**आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्**—आपीनस्य भारः आपीनभारः तस्य उद्वहनं आपीनभारोद्वहनम् तस्मिन् प्रयत्नः आपीनभारोद्वहनप्रयत्नः तस्मात्। **तपोवनवृत्तिप्रयत्नात्**—तपसः वनम् तपोवनम्, तपोवनादावृत्तिः तपोवनावृत्तिः, तस्याः पन्थाः तपोवनावृत्तिपथः तम्।

टिप्पणियाँ—**आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्**—अयन के बोझ को धारण करने के प्रयत्न से। अपने अयन के बोझ ढोने के प्रयास के कारण। **गृष्टिः**—एक बार की प्रसूता (ब्यायी हुई) गाय। "गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः" इति हलायुधः। **वपुषः**—शरीर के। **गुरुत्वात्**—भारीपन के कारण। यहाँ हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुयी है। **अञ्चिताभ्याम्**—सुन्दर, दर्शनीय। **गताभ्याम्**—गमनों से—चालों से। गताभ्याम् का विशेषण "अञ्चिताभ्याम्" है। **उभौ**—दोनों, नन्दिनी नामक गाय और राजा दिलीप। **तपोवनावृत्तिपथम्**—तपोवन से लौटने का मार्ग। आवृत्ति—लौटना। **अलङ्चक्रतुः**—सुशोभित किया। इसका कर्त्ता "उभौ" है।

इस श्लोक में महाकवि की सूक्ष्म-निरीक्षण-क्षमता दर्शनीय है। नन्दिनी गाय तथा राजा दिलीप दोनों की मन्द-गति का कारण एक ही है—भारवहन। यद्यपि भार दोनों के दो प्रकार के हैं किन्तु उस भार के कारण उत्पन्न हुयी मन्द-गति दोनों की एक ही प्रकार की है। □

प्रसङ्ग—तपोवन से लौटे हुये नन्दिनी सहित राजा का दर्शन सुदक्षिणा ने निर्निमेष नेत्रों से किया—

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥१६॥

अन्वय:—वसिष्ठधेनो: अनुयायिनं वनान्तात् आवर्त्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपंक्ति: उपोषिताभ्यां लोचनाभ्यां इव पपौ ॥१६॥

संस्कृत-व्याख्या—वसिष्ठधेनो: = वसिष्ठगो: नन्दिन्या:, अनुयायिनम् = अनुचरम्, वनान्तात् = अरण्यमध्यप्रान्तात्, आवर्त्तमानम् = प्रत्यागतम्, तम् = दिलीपम्, वनिता = सुदक्षिणा, निमेषालसपक्ष्मपंक्ति: निमेषेषु निमीलनेषु अलसा मन्दा पक्ष्मणां नेत्रलोम्नां पंक्ति: अवलि: यस्या: सा निर्निमेषा सतीत्यर्थ: उपोषिताभ्याम् = कृतोपवासाभ्याम् लोचनाभ्याम् = नेत्राभ्याम्, इव, पपौ = पीतवती पत्यु: अदर्शनेन अधीरा सुदक्षिणा वनात् प्रत्यागच्छन्तं नन्दिन्या सह राजानं दिलीपं दृष्ट्वा तृष्णाविस्फारितेन नयनद्वयेन ददर्श । यथा कश्चिदुपोषितो जन: व्रतान्ते अधिकाधिकं जलं पिबन्नपि तृप्ति न आप्नोति तथैव स्वप्रियपतिं निर्निमेषदृशा पश्यन्ती अपि सुदक्षिणा तृप्तिं न लेभे—इति भाव: ।।

हिन्दी-व्याख्या—(वसिष्ठधेनो:) **मुनि वसिष्ठ की गाय नन्दिनी के** (अनुयायिनम्) **पीछे-पीछे गमन करने वाले** (वनान्तात्) **वन के मध्य भाग से** (आवर्त्तमानम्) **लौटते हुये** (तम्) **उस दिलीप को** (वनिता) **सुदक्षिणा ने** (निमेषालसपक्ष्मपंक्ति) **पलकों को गिराने में जिसकी नेत्र-रोमावली निष्क्रिय हो गई थी ऐसे** [अर्थात् निर्निमेष] (उपोषिताभ्याम्) **उपवास किये गये हुये** (लोचनाभ्याम्) **नेत्रों से** (पपौ) **पिया** अर्थात् सतृष्णा एवं अतृप्त नेत्रों से देखा ।]

भावार्थ—सायंकाल मुनि की गाय के पीछे-पीछे चलते हुये वन के मध्य-भाग से लौटते हुये राजा दिलीप को [उनकी पत्नी] सुदक्षिणा ने निर्निमेष दृष्टि से एकटक ['दृष्टि से] देखा किन्तु फिर भी तृप्ति का अनुभव नहीं किया। जैसे कोई उपवास करने वाला व्यक्ति उपवास की समाप्ति पर अधिक से अधिक जल पीने पर भी तृप्ति का अनुभव नहीं किया करता है, उसी प्रकार अपने प्रिय पति राजा दिलीप को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुये होने पर भी सुदक्षिणा ने तृप्ति को प्राप्त नहीं किया ।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है । सुदक्षिणा ने दिनभर दिलीप को नहीं देखा था । अत: ऐसा प्रतीत होता था कि मानो उसके दोनों

नेत्रों ने दिनभर उपवास किया हो।

व्याकरण--**अनुयायिनम्**—अनु + या + णिनि (कर्तरि)। **आवर्तमानम्**—आ + वृत् + शानच् + शप् (मुमागम होकर)। **उपोषित**—उप + वस् + क्त। **पपौ**—पा + लिट् (प्रथमपुरुष, एकवचन)।

समास—**वसिष्ठधेनोः**—वसिष्ठस्य धेनुः वसिष्ठ धेनुः तस्याः। **अनुयायिनम्**—अनयातीति अनुयायी तम्। **वनान्तात्**—वनस्य अन्तः वनान्तः तस्मात्। **आवर्तमानम्**—आवर्त्तते इति आवर्त्तमानः. तम्। **निमेषालसपक्ष्मपंक्तिः**—निमेषेषु अलसा (सप्तमी तत्पुरुष) निमेषालसा, पक्ष्मणां पंक्तिः पक्ष्मपंक्तिः, निमेषालसा पक्ष्मपंक्तिः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **उपोषिताभ्याम्**—उपवासः विद्यते ययाः ते उपोषिते ताभ्याम्।

टिप्पणियाँ—**अनुयायिनम्**—पीछे-पीछे गमन करने वाला। **वनान्तात्**—वन के मध्यभाग। **आवर्त्तमानम्**—लौटते हुये। **वनिता**—स्त्री, सुदक्षिणा। "प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा" इत्यमरः। **निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः**—जिसके पलक बन्द होने अथवा गिरने में अलसाते थे अर्थात् जो टकटकी लगाकर देख रही थी। यह शब्द 'वनिता' का विशेषण है। **उपोषिताभ्याम्**—सुदक्षिणा के नेत्र मानो उपवास किये हुये हों—ऐसे सतृष्ण नेत्रों से उसने राजा को देखा। यह "लोचनाभ्याम्" का विशेषण है। **पपौ**—पिया। सतृष्ण नेत्रों से राजा को पिया अर्थात् टकटकी लगाकर राजा को देखा। जिस भाँति कई दिनों से भूखा व्यक्ति किसी खाद्य पदार्थ को बड़े प्रेम से खाया करता है, उसी भाँति सुदक्षिणा ने स्नेह परिपूर्ण दृष्टि से बिना पलकों को गिराये हुए सतृष्ण नेत्रों से राजा को देखा क्योंकि प्रातःकाल से गाय को चराने के लिये ले जाने के पश्चात् से सायंकाल तक के मध्यकाल में उसने राजा को नहीं देखा था। □

प्रसङ्ग—राजा तथा रानी के मध्य स्थित गाय नन्दिनी कैसी प्रतीत हो रही थी?

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनु-र्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या। २०॥

अन्वयः—वर्तमनि पार्थिवेन पुरस्कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुः, तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता संध्या इव विरराज॥२०॥

संस्कृत-व्याख्या—वर्त्मनि = मार्गे, पार्थिवेन = राज्ञा दिलीपेन, पुरस्कृता = अग्रतः कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या = राज्ञः भार्यया सुदक्षिणया, प्रत्युद्गता = स्वागतार्थम् अग्रे गत्वा आदृता, साधेनुः = नन्दिनी, तदन्तरे = तयोः दम्पत्योः, मध्ये = सुदक्षिणादिलीपयोर्मध्ये, दिनक्षपामध्यगता = दिनक्षण्योः दिनरात्र्योः मध्यागता, सन्ध्या इव, विरराज = शुशुभे [नन्दिनीं अग्रेकृत्य यदा दिलीपः वसिष्ठाश्रमं आगच्छत् तदा सुदक्षिणा तां आनेतुं प्रत्युद्ययौ। तस्मिन् समये सुदक्षिणा दिलीपयोः मध्ये सा नन्दिनी तथैव शोभते स्म यथा दिनरात्रिमध्यगता सन्ध्या शोभते इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(वत्मनि) **मार्ग में** (पार्थिवेन) **राजा दिलीप द्वारा** (पुरस्कृता) **आगे की गई हुई,** (पार्थिवधर्मपत्न्या) **राजा की पत्नी सुदक्षिणा द्वारा** (प्रत्युद्गता) **कुछ आगे बढ़कर अगवानी की जाती हुई** (सा धेनुः) **वह गाय नन्दिनी** (तदन्तरे) **सुदक्षिणा और दिलीप के मध्य में स्थित** (दिनक्षपामध्यगता) **दिन तथा रात्रि के बीच में स्थित** (सन्ध्या इव) **सन्ध्या** [सायंकाल] **के सदृश** (विरराज) **शोभा प्राप्त कर रही थी।**

भावार्थ—वन से वापिस आते समय नन्दिनी (गाय) आगे-आगे चल रही थी और राजा दिलीप के उसके पीछे-पीछे आश्रम में पहुँचने पर सुदक्षिणा ने उसकी अगवानी की [कुछ आगे बढ़कर उसका स्वागत किया]। इस समय दिलीप तथा सुदक्षिणा के बीच स्थित वह गाय नन्दिनी उसी प्रकार शोभा प्राप्त कर रही थी कि जैसे दिन तथा रात्रि के बीच में 'संध्या' शोभा प्राप्त किया करती है।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है। राजा 'दिन' के सदृश कान्तिमान् हैं और रानी सुदक्षिणा रात्रि के सदृश सुन्दर। नन्दिनी अरुणवर्ण की तथा स्त्रीलिंग की होने के कारण अरुणवर्णा सन्ध्या के समान है। इस स्थल पर महाकवि कालिदास द्वारा प्रयुक्त उपमा का लालित्य दर्शनीय है। लिङ्ग तथा वर्णसाम्य भी अवलोकनीय है।

व्याकरण—**पार्थिवेन**—पृथिवी + अञ् = पार्थिवः (तृतीया एकवचन में)। **पुरस्कृता**—पुरस् + कृ + क्त (त) टाप्। **प्रत्युद्गता**—प्रति + उत् + गम् + क्त (क्त) + (टाप्)। **विरराज**—वि + राज् + लिट् (प्रथमपुरुष एकवचन)।

समास—**पार्थिवधर्मपत्न्या**—पृथिव्याः ईश्वरः पार्थिवः तस्य धर्मपत्नी तया। **दिनक्षपामध्यगता**—दिनञ्च क्षपा च दिनक्षपे तयोः मध्यं दिनक्षपामध्यम्। दिनक्षपामध्यगता—दिनक्षपामध्यगता (द्वितीया तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—**वर्त्मनि**—मार्ग [रास्ते] में। **पार्थिवेन**—राजा (दिलीप) द्वारा। **पुरस्कृता**—आगे की गई हुयी। राजा गाय के पीछे-पीछे चल रहा था। **पार्थिवधर्मपत्न्या**—राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा द्वारा। **प्रत्युद्गता**—स्वागत के लिये कुछ आगे बढ़कर जिस गाय की अगवानी की गयी थी। **तदन्तरे**—उन दोनों (राजा और रानी) के बीच में स्थित (गाय नन्दिनी)। **दिनक्षपामध्यगता**—दिन तथा रात्रि दोनों के बीच में जिसकी स्थिति रहा करती है ऐसी—सन्ध्या। "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षप" इति चामरः। **विरराज**—सुशोभित हुयी। □

प्रसङ्ग—स्वागत के पश्चात् सुदक्षिणा द्वारा गाय की पूजा की गई—

"प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां, सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः॥२१॥

अन्वय—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अर्थसिद्धेः द्वारं इव अस्याः विशालं शृङ्गान्तरं आनर्च॥२१॥

संस्कृत-व्याख्या—साक्षतपात्रहस्ता=अक्षतानां तण्डुलविशेषाणां पात्र भाजनं तेन सह वर्तेते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ करौ यस्याः सा, सुदक्षिणा=राज्ञः दिलीपस्य धर्मपत्नी, पयस्विनीम्=प्रशस्तदुग्धाम् ताम्=नन्दिनीम्, प्रदक्षिणीकृत्य=परिक्रम्य, प्रणम्य च=प्रणामं कृत्वा च; अर्थसिद्धेः=सन्तति प्राप्तिरूपकार्यसिद्धेः, द्वारम्=प्रवेशमार्गमिव अस्याः=नन्दिन्याः, विशालम्=विस्तृतम्, शृङ्गान्तरम्=शृङ्गयोः विषाणयोः अन्तरं मध्यम्=मस्तकमित्यर्थः, आनर्च=पूजयामास [यदा नन्दिनी तपोवनात् वसिष्ठाश्रमं प्रत्यागत तदा सुदक्षिणा अक्षतपूर्णपात्रं हस्ते गृहीत्वा तस्याः प्रदक्षिणां कृतवती तथा च तां प्रणम्य तस्याः विशालं मस्तकंस्वाभीष्टसिद्धेः कारणं मत्वा पूजितवती। सा सुदक्षिणा तस्याः नन्दिन्याः मस्तकं पुत्रप्राप्तिरूपस्वाभीष्टसिद्धेः—प्रवेशमार्गम् अन्यत इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(साक्षतपात्रहस्ता) **अक्षतो** [चावलों] **से युक्त पात्र को हाथ में लिये हुये** (सुदक्षिणा) **राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने** (पयस्विनीम्) **उत्तम दूध देने वाली** (ताम्) **उस नन्दिनी की** (प्रदक्षिणीकृत्य) **प्रदक्षिणा** [परिक्रमा] **करके** (प्रणम्य च) **और उसे प्रणाम करके** (अर्थसिद्धेः) **अर्थसिद्धि अर्थात् सन्तान-प्राप्ति रूप अपने प्रयोजन की सिद्धि के** (द्वारं इव) **प्रवेशद्वार के सदृश** (अस्याः) **इस नन्दिनी के** (विशालम्) **विस्तृत** (शृङ्गान्तरम्) **सींगों के मध्यभाग अर्थात् मस्तक की** (आनर्च) **पूजा की।**

भावार्थ—जब नन्दिनी तपोवन से लौटकर वसिष्ठ मुनि के आश्रम में आ गई तो उस समय सुदक्षिणा ने अक्षतयुक्त पात्र को अपने हाथ में लेकर उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा की और तत्पश्चात् उसको प्रणाम करके उसके विशाल मस्तक की पूजा की। सुदक्षिणा की दृष्टि में नन्दिनी का यह विशाल मस्तक ही मानो सन्तान-प्राप्ति रूप अभीष्ट की सिद्धि के लिये प्रवेशद्वार था।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

व्याकरण—पयस्विनीम्—पयस् + विनि + ङीप्। **प्रणम्य**—प्र + नम + ल्यप्। **आनर्च**—अच् + लिट्।

समास—साक्षतपात्रहस्ता—अक्षतानां पात्रमिति अक्षतपात्रम्, अक्षतपात्रेण सह वर्तमानो साक्षतपत्रो हस्तो यस्याः सा (बहुव्रीहि समास)। **पयस्विनीम्**—प्रशस्तं पयः अस्ति अस्याः इति पयस्विनी ताम्। **प्रदक्षिणीकृत्य**—प्रगतः दक्षिणम् इति प्रदक्षिणम्, न प्रदक्षिणम् अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं कृत्वा इति प्रदक्षिणीकृत्य। **अर्थसिद्धेः**—अर्थस्य सिद्धिः तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। **शृङ्गान्तरम्**—शृङ्गयोः अन्तरं इति शृङ्गान्तरम्।

टिप्पणियाँ—साक्षतपात्रहस्ता—अक्षतों (चावलों) से युक्त पात्र को [अपने] हाथ में लिये हुए। **पयस्विनीम्**—उत्तम दुग्ध देने वाली [उस नन्दिनी की]। **प्रदक्षिणाकृत्य**—प्रदक्षिणा [अथवा परिक्रमा] करके नन्दिनी नामक गाय के चारों ओर चक्कर लगाकर अथवा घूमकर। **अर्थसिद्धेः**—प्रयोजन की। [सन्तान-प्राप्ति की दृष्टि से राजा दिलीप तथा उसकी पत्नी ने नन्दिनी नामक गाय की सेवा का व्रत लिया था। अतः सन्तान-प्राप्ति ही उनका प्रयोजन था—इसी प्रयोजन की सिद्धि के अर्थात् अपने अभीष्ट की सिद्धि के।

द्वारमिव—प्रवेशद्वार के सदृश अथवा प्रवेश-मार्ग के समान। **शृङ्गान्तरम्**—दोनों सींगों के बीच के भाग- अर्थात् ललाट अथवा मस्तक को। **आनर्च**—पूजा—पूजन किया। □

प्रसङ्ग—नन्दिनी ने सुदक्षिणा द्वारा की गई उस पूजा को स्वीकार किया-

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि॥२२॥

अन्वयः—वत्सोत्सुका अपि सा स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत् इति तौ ननन्दतुः। हि भक्त्या उपपन्नेषु तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि भवन्तीति शेषः]॥२२॥

संस्कृत-व्याख्या—वत्सोत्सुका=स्ववत्सदर्शनाय उत्कण्ठिता, अपि, सा=नन्दिनी, स्तिमिता=निश्चला सती, सपर्याम्=पूजाम्, प्रत्यग्रहीत्=स्वीकार, इति=हेतोः, तौ=दम्पती—सुदक्षिणादिलीपौ, ननन्दतुः=प्रसन्नौ बभूवतुः। हि=यतः, भक्त्या=श्रद्धया, उपपन्नेषु=समन्वितेषु, तद्विधानाम् तस्याः धेन्वाः विधा इव विधा प्रकारोये येषां तेषाम्=नन्दिनीसदृशमाहनुभावानामित्यर्थः प्रसादचिह्नानि=प्रसन्नताद्योतकानि लक्षणानि=स्थिरतया पूजास्वीकरणादीनि इति भावः] पुरःफलानि=आसन्नलाभवन्ति=[अविलम्बितस्वाभीष्टफल-प्राप्तिसूचकानि इति भावः] भवन्ति [यद्यपि तपोवनाद् प्रत्यागता नन्दिनी स्ववत्सदर्शनाय उत्कण्ठिता आसीत् तथापि सुदक्षिणया कृतां पूजां सा शान्ति-पूर्वकं स्वीकृतवती। एतत् दृष्ट्वा सुदक्षिणादिलीपौ प्रसन्नौ बभूवतुः। यतो हि अनुरागपूर्णेषु जनेषु नन्दिनीसदृशानां महानुभावानां प्रसन्नताद्योतकानि लक्षणानि अविलम्बितस्वाभीष्टफलप्राप्तिसूचकानि भवन्तीति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(वत्सोत्सुका) **अपने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित होने पर** (अपि) **भी** (सा) **उस नन्दिनी ने** (स्तिमिता) **स्थिरता के साथ** (सपर्याम्) [सुदक्षिणा द्वारा किये गये] **पूजन को** (प्रत्यग्रहीत्) **स्वीकार किया,** (इति) **इस कारण** (तौ) **वे दोनों** [सुदक्षिणा और दिलीप] **ननन्दतुः—प्रसन्न हुए।** (हि) **क्योंकि** (भक्त्या) **पूज्य व्यक्ति के अनुराग से** (उपपन्नेषु) **युक्त जनों के विषय में** (तद्विधानाम्) **नन्दिनी के सदृश व्यक्तियों के** (प्रसादचिह्नानि) पूजास्वीकारादि]

प्रसन्नता के लक्षण (पुरःफलानि) अविलम्बित **अभीष्टसिद्धि के सूचक** [हुआ करते हैं]।

भावार्थ—तपोवन से लौट आने पर यद्यपि नन्दिनी अपने बछड़े को देखने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित थी फिर भी उसने बड़े धैर्य के साथ सुदक्षिणा द्वारा की गयी पूजा को स्वीकार किया। इस बात को देखकर राजा दिलीप तथा उनकी पत्नी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई, क्योंकि नन्दिनी सदृश महान् व्यक्ति जब अपने प्रति श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति से प्रसन्न हो जाया करते हैं तब उनकी यह प्रसन्नता शीघ्र ही अभीष्ट फल की सिद्धि कराने वाली हुआ करती है।

अलङ्कार—इस श्लोक के उत्तरार्ध में वर्णित सामान्य तथ्य के द्वारा पूर्वार्ध में वर्णित विशेष वस्तु का समर्थन किया गया है—अतः यहाँ 'अर्थान्तर-न्यास' अलङ्कार है।

व्याकरण—**स्तिमिता**—स्तिम् + क्त (त) + [इडागम] + टाप्। **प्रत्यग्रहीत्**—प्रति + ग्रह् + लुङ् (प्रथमपुरुष एकवचन का रूप)। **ननन्दतुः**—नन्द् + लिट् (प्रथम पुरुष, द्विवचन का रूप)। **उपपन्नेषु**—उप + पद् + क्त (त) [धातु के द् तथा प्रत्यय के त को न आदेश हो जाने पर]—**उपपन्न**—(सप्तमी विभक्ति के बहुवचन का रूप)। **विधानाम्**—वि + धा + अङ् (अ) टाप्—विधा—(षष्ठी बहुवचन का रूप)।

समास—**वत्सोत्सुका**—वत्से उत्सुका इति वत्सोत्सुका (सप्तमी तत्पुरुष)। **तद्विधानाम्**—तस्याः विधा इव विधा येषां ते तद्विधा (बहुव्रीहि) तेषाम्। **प्रसादचिह्नानि**—प्रसादस्य चिह्नानि इति प्रसादचिह्नानि। **पुरःफलानि**—पुरोगतानि फलानि येषां तानि।

टिप्पणियाँ—**वत्सोत्सुका**—[अपने, बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठित। **स्तिमिता**—स्थिर अथवा निश्चल होकर—[स्थिरता के साथ]। **सपर्याम्**—पूजन को [सुदक्षिणा द्वारा की गई पूजा को]। **प्रत्यग्रहीत्**—स्वीकार किया। सायंकाल का समय था। गाय नन्दिनी वन से लौटकर आयी ही थी तथा अपने बछड़े को देखने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थी। फिर भी उसने शान्ति एवं धैर्य के साथ सुदक्षिणा द्वारा की जाती हुई पूजा को स्वीकार किया। **इति**—इस कारण [शान्ति के साथ उक्त पूजा को स्वीकार किये जाने के कारण "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु" इत्यमरः। **तौ**—वे दोनों [दिलीप तथा

उनकी पत्नी सुदक्षिणा] । **ननन्दतुः**— आनन्दित हुये-प्रसन्न हुये । **भक्त्या**— भक्ति अथवा श्रद्धा से । **उपपन्नेषु**—युक्त लोगों पर । **तद्विधानम्**—उसके [नन्दिनी के] सदृश महानुभावों का । **प्रसादचिह्नानि**—प्रसन्नता [अथवा हर्षित होने] के लक्षण अथवा चिह्न । **पुरःफलानि**—शीघ्र ही फल-प्राप्ति के सूचक । उस नन्दिनी के समान महानुभाव जब अपने भक्तों के प्रति प्रसन्नता-द्योतन किया करते हैं तो उसका भाव यह होता है कि भक्त की अभीष्ट सिद्धि शीघ्र ही होने वाली है । नन्दिनी ने बड़े धैर्य तथा शान्ति के साथ रानी द्वारा की गई पूजा को स्वीकार किया था । इस बात को देखकर राजा तथा रानी को यह विश्वास हो गया था कि अब उनकी सन्तान-प्राप्ति सम्बन्धी इच्छा की पूर्ति शीघ्र ही होगी । इस आधार पर वे दोनों अत्यन्त प्रसन्न भी हुये । □

प्रसङ्ग—अब राजा अपने सायंकालीन कृत्यों को सम्पन्न कर पुनः गो-सेवा में संलग्न हो जाते हैं—

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजाच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

अन्वयः—भुजोच्छिन्नरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं च समाप्य दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीं एव पुनः भेजे ॥२३॥

संस्कृत-व्याख्या—भुजोच्छिन्नरिपुः = भुजाभ्यां बाहुभ्यां उच्छिन्नाः विनाशिता रिपवः शत्रवः येन तादृशः, दिलीपः, सदारस्य = सपत्नीकस्य, गुरोः = वसिष्ठस्य, पादौ = चरणौ, निपीड्य = अभिवन्द्य, सान्ध्यम् = सायंकालिकम्, विधिम् = ब्रह्मचिन्तनादिक विधानं च, समाप्य = विधाय, दोहावसाने = दुग्ध-दोहनान्ते, निषण्णाम् = सुखोपविष्टाम्, दोग्ध्रीम् = धेनुम् = नन्दनीम्, एव, पुनः = भूयः, भेजे = सिषेवे वसिष्ठाश्रमं प्रत्यागत्य दिलीपः सपत्नीकस्य वसिष्ठस्य चरणयोः सम्वाहनं कृतवान् । तदनु स्वकीयं सायंकालीन सन्ध्योपासनादिकृत्यं विधाय दोहनक्रियायाः समाप्त्यनन्तरं सुखासीनां तां नन्दिनीं भूयोऽपि सेवितुं प्रचक्रमे = इति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(भुजोच्छिन्नरिपुः) [अपनी] **भुजाओं के बल से शत्रुओं का विनाश कर देने वाले** (दिलीपः) राजा दिलीप ने (सदारस्य) **पत्नी सहित** (गुरोः) वसिष्ठ के (पादौ) **दोनों चरणों को** (निपीड्य) **दबाकर** [अथवा दोनों

चरणों की वन्दना करके] (सान्ध्यम्) **सायंकालीन** (विधिम्) **सन्ध्योपासनादि कृत्य को** (समाप्य) **समाप्त करके** (दोहावसाने) [गाय के] **दुह लिये जाने के पश्चात्** (निषण्णाम्) **सुखपूर्वक बैठी हुई** (दोग्ध्रीम् एव) **गाय को ही** (पुनः) **फिर** (भेजे) **सेवा की।**

भावार्थ—अपने बाहुबल से शत्रुओं का विनाश कर देने वाले राजा दिलीप ने अरुन्धती सहित गुरु वसिष्ठ के चरणों की वन्दना की और तदनन्तर सायंकालीन सन्ध्योपासनादि विधि को समाप्त किया। इसके पश्चात् जब गाय का दूध दुह लिया गया तथा वह सुखपूर्वक बैठ गई तब राजा दिलीप पुनः उस गाय की सेवा में संलग्न हो गये।

इस श्लोक में भी राजा द्वारा की गई गाय नन्दिनी की सेवा का ही चित्रण किया गया है। राजा गाय की सेवा में असीम श्रद्धा एवं संकल्प के साथ रत हैं—यही दर्शाया गया है।

व्याकरण—**उच्छिन्न**—उत् + छिद् + क्त (त) पुनः प्रत्यय के 'त' तथा धातु के 'द्' को नकारादेश होकर 'छ' के योग में 'त' के स्थान पर 'च' होकर उच्छिन्न बनता है। **निपीड्य**—नि + पीड् + ल्यप्। **सान्ध्यम्**—सन्ध्या + अण् (अ)। **विधिम्**—वि + धा + कि (इ) विधिः—(द्वितीया एकवचन में–विधिम्)। **समाप्य**—सम् + आप् + ल्यप्। **निषण्णाम्**—नि + षद् + क्त + टाप् (द्वितीया विभक्ति—एकवचन का रूप)। **दोग्ध्रीम्**—दुह + तृच् + ङीप्। **भेजे**—भज् + लिट् (प्रथम पुरुष एकवचन का रूप)।

समास—**भुजोच्छिन्नरिपुः**—भुजाभ्यां उच्छिन्नाः रिपवः येन सः (बहुव्रीहि)। **सदारस्य**—दारैः सहितः सदारस्य। **सान्ध्यम्**—सान्ध्यायां भवः सान्ध्यस्तम्। **दोहावसाने**—दोहस्य अवसानं दोहावसानं तस्मिन्।

टिप्पणियाँ—**भुजोच्छिन्नरिपुः**—[अपनी] भुजाओं के बल से शत्रुओं का नाश करने वाला। **सदारस्य**—पत्नी सहित का [दारा शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है।] **गुरोः**—गुरु वसिष्ठ का—मुनि वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती तथा मुनि वसिष्ठ दोनों का ही।] **निपीड्य**—दबाकर अथवा वन्दना करके। **सान्ध्यम्**—सायंकालीन—शाम की। यह 'विधिम्' का विशेषण है। **विधिम्**—अनुष्ठान को—सन्ध्या उपासनादि को। **समाप्य**—समाप्त करके। **दोहावसाने**-

दुह लेने के पश्चात् । **निषण्णाम्**—सुखपूर्वक, बैठी हुयी । **दोग्ध्रीम्**—दूध देने वाली—गाय को । **भेजे**—सेवा की ।

प्रसङ्ग—राजा दिलीप तथा उनकी पत्नी सुदक्षिणा ने रात्रि में भी उस नन्दिनी की सेवा की—

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

अन्वयः—गृहिणीसहायः गोप्ता अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां तां अन्वास्य क्रमेण सुप्तां अनुसंविवेश, प्रातः सुप्तोत्थितां अनु उदतिष्ठत् ॥२४॥

संस्कृत-व्याख्या—गृहिणीसहायः = पत्नी— सुदक्षिणा] सहितः, गोप्ता = रक्षिता दिलीपः, अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम् = समीपस्थापितोपहारदीपाम्, ताम् = सुखासीनां नन्दिनीम्, अन्वास्य = पश्चादुपविश्य, क्रमेण = यथाक्रमम्, सुप्ताम् = निद्रिताम्, अनु = पश्चात्, संविवेश = शिश्ये, प्रातः = प्रभाते, सुप्तोत्थिताम् = स्वापानन्तरमुत्थिताम्—जागरितामित्यर्थः, अनु = पश्चात्, उदतिष्ठत् = उत्तस्थौ [समीपस्थापितपूजादीपायाः तस्याः पृष्ठतः सुदक्षिणादिलीपौ स्थितवन्तौ । यदा च सा सुप्ता तदा तावपि शयनमभजताम् । प्रातःकाले सुप्तोत्थितायां तस्यां तावपि उदतिष्ठताम्—इति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(गृहिणीसहायः) **पत्नी सहित** (गोप्ता) **रक्षक उस राजा ने** (अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम्) **जिसके पास पूजा की सामग्री अथवा भोज्य पदार्थ और दीपक रखा गया था । ऐसी** (ताम्) **उस गाय के** (अन्वास्य) [बैठ जाने के] **पश्चात् स्वयं भी बैठकर** (क्रमेण) **क्रम से** (सुप्ताम्) **उस** [गाय] **के सो जाने के** (अनु) **पश्चात्** (संविवेश) **स्वयं भी सो गये** (प्रातः) **प्रातःकाल** (सुप्तोत्थिताम्) **सोकर उठी हुई** [उस गाय के (अनु) **पश्चात्** (उदतिष्ठत्) [स्वयं भी] **उठ बैठे ।**

भावार्थ—पत्नी सुदक्षिणा समेत राजा दिलीप ने नन्दिनी के पास सम्पूर्ण पूजा की सामग्री तथा दीपक आदि को रखा । जब वह बैठ गयी तब वह दोनों भी बैठ गये । जब वह सो गयी तब वह दोनों भी जाग गये और जब वह प्रातः सोकर उठी अर्थात् जागी तब वे दोनों भी सो गये । इस भाँति गो-सेवा-व्रत में तल्लीन राजा दिलीप गाय नन्दिनी की इच्छानुसार ही सब कुछ करते थे । सेवा-व्रत का यह एक अनूपम उदाहरण है ।

व्याकरण—गोप्ता—गुप + तृच् (तृ)। **गृहिणी**—गृह् + इनि + ङीप् (अन्तिम अकार लोप)। **न्यस्त**—नि + अस + क्त। **अन्तिक**—अन्त + ठन्—इक्। **सुप्ताम्**—स्वप् + क्त + टाप्। **उत्थिताम्**—उत् + स्था + क्त + टाप् + आकार को 'इ' होने के पश्चात्—उत्थिताम्।

समास—**गृहिणीसहायः**—गृहिणी स्त्री सहाया यस्य सः (बहुव्रीहि) **अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम्**—अन्तिके न्यस्ताः अन्तिकन्यस्ताः, बलयश्च प्रदीपाश्च बलिप्रदीपाः, अन्तिकन्यस्ताः बलिप्रदीपा यस्याः सा अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा ताम् तथोक्ताम्। **सुप्तोत्थिताम्**—आदौ सुप्ता पश्चात् उत्थिता इति सुप्तोत्थिता ताम्।

टिप्पणियाँ—**गृहिणीसहायः**—स्त्री ही जिसकी सहायक है—अर्थात् गोसेवा में जिसकी स्त्री सुदक्षिणा ही एकमात्र सहायक थी—ऐसा राजा दिलीप। **गोप्ता**—रक्षक, रक्षा करने वाला। **अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपाम्**—जिसके पास ही बलि (पूजा की सामग्री) तथा दीपक रक्खा है—ऐसी गाय को अथवा जिसके समीप भोज्य पदार्थ तथा दीपक रखा हुआ है—ऐसी गाय। **ताम्**—गाय नन्दिनी को। **अन्वास्य**—अनु + आस्य अनु—पीछे बाद में, **आस्य**—बैठकर। **क्रमेण**—यथाक्रम अर्थात् जब गाय बैठ जाती तब बैठ जाते, जब सो जाती तब सो जाते। **सुप्ताम्**—सोती हुई को निद्रित। **अनुसंविवेश**—अनु—पश्चात्—बाद में पीछे, **संविवेश**—सो जाते थे। जब गाय सो गई तब उसके पश्चात् सुदक्षिणा और राजा भी सो गये। **सुप्तोत्थिताम्**—सोकर [सोने के पश्चात्] उठी हुयी को। **अनुउदतिष्ठत्**—बाद में उठते थे अर्थात् जब नन्दिनी सोकर उठ जाती थी तब राजा एवं रानी भी उठ जाते (जाग जाया करते) थे।

प्रसङ्ग—इस भाँति गौ की सेवा करते हुए राजा दिलीप के इक्कीस २१ दिन व्यतीत हो गये—

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं, समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्तव्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥२५॥

अन्वयः—इत्थं महिष्या समं प्रजार्थं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः ॥२५॥

संस्कृत-व्याख्या—इत्थम् = अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण, महिष्या = अभिषिक्तपत्न्या सुदक्षिणया, समम् सार्धम्, प्रजार्थम् = सन्तानप्राप्त्यर्थम्, व्रतम् नियमम्—गोसेवारूपनियममित्यर्थः, धारयतः = दधतः पालयतः वा महनीयकीर्तेः = महनीया पूजा कीर्तिः यशो यस्य तस्य महनीयकीर्तेः-प्रशस्ययशसः, दीनोद्धरणोचितस्य = दीनजनरक्षणतत्परस्य, तस्य = दिलीपस्य, त्रिगुणानि = त्रिवृतानि, सप्त = सप्तसंख्यकानि, दिनानि = अहानि–एकविंशतिदिनानीति भावः, व्यतीयुः = समाप्तानि पूर्वोक्तप्रकारेण सन्तानप्राप्तये साम्राज्ञ्या सार्धं नन्दिनीपरिचर्यात्मकं नियमं पालयतः तस्य दिलीपस्य एकविंशतिदिनानि व्यतीतानि—इति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(इत्थम्) **इस भाँति** [पूर्वोक्त रूप से (महिष्या समम्) **रानी सुदक्षिणा के साथ** (प्रजार्थम्) **सन्तान-प्राप्ति के निमित्त** (व्रत धारयतः) **गो-सेवा-व्रत का पालन करने वाले** (महनीयकीर्तेः) **महान् यशस्वी** (दीनोद्धारणोचितस्य) **दीनों का उद्धार करने में संलग्न** (तस्य) **उस दिलीप के** (त्रिगुणानि सप्त) **सात के तीन गुने अर्थात्** ३ × ७ = २१ इक्कीस (दिनानि) **दिन** (व्यतीयुः) **बीत गये** ।

भावार्थ—पूर्वोक्त रूप से सन्तान-प्राप्ति के निमित्त प्रतिदिन गाय की सेवा करते हुए सुदक्षिणा सहित राजा दिलीप के इक्कीस दिन व्यतीत हो गये ।

व्याकरण—**इत्थम्**—इदम् से शब्द से 'थमु' प्रत्यय तथा 'इदम्' को 'इत्' आदेश होकर 'इत्थम्' शब्द बनता है। **धारयतः**—धृ + णिच्—धारि + शतृ—(अ)—गुण अयादेश (षष्ठी विभक्ति एकवचन का रूप)। **उद्धरण**—उत् + हृ + ल्युट् (अन) । **व्यतीयुः**—वि + अति + इण् (गमन करना अर्थ में) + लिट् ।

समास—**प्रजार्थम्**—प्रजायै इति प्रजार्थम् (चतुर्थी तत्पुरुष)। **महनीयकीर्त्तेः**—महनीया कीर्तिः यस्य सः महनीयकीर्तिः तस्य (बहुव्रीहि)। **दीनोद्धरणोचितस्य**—दीनानां उद्धरणं दीनोद्धरणम् तस्मिन् उचितः इति दीनोद्धरणोचितः तस्य । **त्रिगुणानि**—त्रयो गुणा येषां तानि त्रिगुणानि ।

टिप्पणियाँ—**इत्थम्**—इस प्रकार से, पूर्वोक्त प्रकार से । **प्रजार्थम्**—सन्तान के लिये "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इत्यमरः । **महिष्या समम्**—रानी

सुदक्षिणा के साथ। यहाँ 'समम्' के योग में तृतीया विभक्ति हुई—"साकं सार्धं समम् सह" इत्यमरः। **धारयतः**—धारण करने वाले का पालन करने वाले का (व्रत का पालन करते हुये राजा दिलीप का)। **महनीयकीर्तेः**—प्रशस्त यश वाले राजा—पूज्य कीर्ति वाले राजा का। **दीनोद्धरणोचितस्य**—तस्य-गरीबों का उद्धार करने में सशक्त अथवा संलग्न (राजा)। राजा दिलीप गरीबों की रक्षा करने के लिये सदैव उद्यत रहा करते थे **सप्त त्रिगुणानि**—सात के तिगुने अर्थात् इक्कीस। **व्यतीयुः**—बीत गये, व्यतीत हो गये। □

प्रसङ्ग—निरन्तर २१ दिन तक पूर्वोक्त प्रकार से ही गाय की सेवा राजा दिलीप और सुदक्षिणा द्वारा की गई। गाय का मन इस सेवा से अत्यधिक प्रसन्न तथा प्रभावित हो गया। बाईसवें दिन नन्दिनी ने राजा की परीक्षा लेने की बात सोची—

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥२६॥

अन्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरं आविवेश ॥२६॥

संस्कृत-व्याख्या—अन्येद्युः=अन्यस्मिन् दिने-द्वाविंशे, दिवसे = इत्यर्थः, मुनिहोमधेनुः = वसिष्ठमहर्षेः हवनसामग्रीसम्पादिका गौः (नन्दिनी), आत्मानुचरस्य - आत्मनः स्वस्य अनुचरस्य सेवकस्य दिलीपस्य भावम् = अभिप्रायम्, जिज्ञासमाना = ज्ञातुमिच्छन्ती, गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं = गंगाप्रवाहपतनसमीपोत्पन्नबालतृणम्, गौरीगुरोः = हिमालयस्य, गह्वरम् = गुहाम्, आविवेश = प्राविशत् [द्वाविंशे दिवसे स्वसेवकस्य दिलीपस्य दृढ़भक्तिपरीक्षार्थं सा नन्दिनी हिमालयस्य तां गुहां आविवेश यत्र गंगायाः निपतनप्रदेशसमीपे शष्पाणि समुत्पन्नानि आसन्निति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(अन्येद्युः) **दूसरे दिन अर्थात् बाईसवें दिन** (मुनिहोमधेनुः) **मुनि वसिष्ठ की हवन सम्बन्धी सामग्री का सम्पादन करने वाली गाय** [नन्दिनी] (आत्मानुचरस्य) **अपनी सेवा करने वाले दिलीप के** (भावम्) [उनके] **श्रद्धाभाव को अथवा भक्तिभाव को** (जिज्ञासमाना) **जानने की इच्छा रखती हुई** (गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पम्) **गंगा की** [एक] **धार के गिरने से उगी**

हुई घास से युक्त (गौरीगुरोः) पार्वती के पिता हिमालय की (गह्वरम्) गुफा में (आविवेश) प्रविष्ट हो गई।

भावार्थ—दूसरे (अर्थात् बाईसवें) दिन मुनि वसिष्ठ की होम सम्बन्धी गाय (नन्दिनी) अपने सेवक राजा दिलीप के "मेरे प्रति इनकी दृढ़ भक्ति है अथवा नहीं" इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई गंगा के प्रवाह के गिरने के कारण उगी हुई छोटी-छोटी घास से युक्त हिमालय पर्वत की गुफा में घुस गयी।

अलङ्कार—इस श्लोक में "वृत्यनुप्रास" अलङ्कार है।

व्याकरण—**अन्येद्युः**—अन्य + एद्युस्। **अनुचर**—अनु + चर् + ट। **भावम्**—भू + घञ् (अ) वृद्धि, आवादेश (द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप)। **जिज्ञासमाना**—ज्ञा + सन् + शानच् + टाप्। **प्रपात**—प्र + पत् + घञ्। **विरूढ**—वि + रुह् + क्त (य) प्रत्यय के त को ध, धातु के ह् को ढ्, ध को ढ, प्रथम 'ढ' का लोप तथा 'उ' को दीर्घ होकर 'विरूढ' बनता है। **आविवेश**—आ + विश् + लिट्।

समास—**मुनिहोमधेनुः**—होमार्थं धेनुः होमधेनुः मुनेः होमधेनुः—मुनिहोमधेनुः। **आत्मानुचरस्य**—आत्मनः अनुचरः आत्मानुचरः तस्य। **गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पम्**—गंगायाः प्रपातः गंगाप्रपातः तस्य अन्तः गंगाप्रपातान्तः तत्र विरूढानि शष्पाणि यस्मिन् तत्। **गौरीगुरोः**—गौर्याः गुरुः गौरीगुरुः तस्य।

टिप्पणियाँ—**अन्येद्युः**—दूसरे दिन अर्थात् बाईसवें दिन। **मुनिहोमधेनुः**—वसिष्ठ मुनि के लिये हवन सम्बन्धी वस्तुओं का सम्पादन करने वाली गाय (नन्दिनी)। **आत्मानुचरस्य**—अपनी सेवा में रत राजा दिलीप के अथवा अपने सेवक के। **भावम्**—भाव को श्रद्धा अथवा भक्ति को मेरे प्रति राजा की भक्ति वास्तविक है अथवा नहीं इस बात को [जानने की इच्छा से]। **जिज्ञासमाना**—जानने की इच्छा रखने वाली। यह "मुनिहोमधेनु" का विशेषण है। **गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पम्**—जिस गुफा में गंगा के झरने के पास घास उगी हुयी थी। प्रपात झरना प्रपाते 'निर्झरेमृगी' इति हैहयः। **विरूढ**—उगी हुई। **शष्पम्**-कोमल घास है। यह 'गह्वरम्' का विशेषण है। **गौरीगुरोः**—पार्वती के

की अर्थात् हिमालय की। गह्वरम्—गुफा में—"देवखातबिले गुहा गह्वरम्" इत्यमरः। आविवेश—घुसी—प्रविष्ट हुयी।

प्रसङ्ग—गुफा में प्रविष्ट हुयी गाय को एक सिंह से पकड़कर दबा लिया—

सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥२७॥

अन्वयः—सा हिंस्रैः मनसा अपि दुष्प्रधर्षा इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनः सिंहः तां प्रसह्य चकर्ष किल ॥२७॥

संस्कृत-व्याख्या—सा = नन्दिनी, हिंस्रैः = हिंसकैः हिंसकजन्तुभिर्वा, मनसा अपि = चित्तेन अपि, दुष्प्रधर्षा = दुर्दमनीया, इति = अस्माद्धेतोः, अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन = अद्रेः हिमालयस्य शोभायां सौन्दर्ये प्रहितं दत्तं ईक्षणं दृष्टिः येन तेन, नृपेण—राज्ञा दिलीपेन, अलक्षिताभ्युत्पतनः = अलक्षितं अदृष्टं अभ्युत्पतनं आभिमुख्येन आक्रमणं यस्य तादृशः सिंहः = मृगेन्द्रः, ताम् = नन्दिनीम्, प्रसह्य = हठात्, चकर्ष = आकृष्टवान्, किल = इत्यलीके। [सा नन्दिनी व्याघ्रादिभिः हिंसकजन्तुभिः मनसापि दमनीया नास्ति इति मनसा विचार्य राजा दिलीपः इतस्ततः विचरन्तीं गां विहाय हिमालयस्य शोभा द्रष्टुं तत्परोऽभवत्। अतः दिलीपः सिंहस्य आक्रमणं द्रष्टुं नाशक्नोत् सिंहश्च तां गां बलात् चकर्ष इति भावः]।

हिन्दी व्याख्या—(सा) वह नन्दिनी (हिंस्रैः) व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं के द्वारा (मनसा अपि) मन से भी (दुष्प्रधर्षा) बड़ी कठिनाई से दबाने योग्य अथवा दुर्दमनीया है" (इति) इस कारण (अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन) हिमालय पर्वत की शोभा को देखने में संलग्न दृष्टि वाले (नृपेण) राजा दिलीप द्वारा (अलक्षिताभ्युत्पतनः) [गाय के ऊपर सामने से ही किये गये] सिंह के आक्रमण को नहीं देखा जा सका। (परिणामस्वरूप) (सिंहः) सिंह ने (ताम्) उस गाय को (प्रसह्य) हठपूर्वक अथवा बलपूर्वक (चकर्ष किल) खींच लिया।

भावार्थ—जब नन्दिनी हिमालय की गुफा में प्रविष्ट हो गई तो राजा ने, यह समझकर कि नन्दिनी पर व्याघ्रादि कोई भी हिंसक जन्तु मन से भी आक्रमण करने की बात कभी नहीं सोच सकता है, अपनी दृष्टि को पर्वतीय

शोभा के देखने में लगा दिया। इसी बीच एक सिंह ने नन्दिनी पर आक्रमण कर बलपूर्वक उसे अपनी ओर खींच लिया। पर्वतीय शोभा को देखने में संलग्न दृष्टि वाला राजा सिंह के इस आक्रमण को नहीं देख सका।

विशेष—इस श्लोक में 'किल' शब्द का प्रयोग 'अलीक' (झूठ) अर्थ में हुआ है। यहाँ सिंह वस्तुतः सिंह नहीं था। वह माया का सिंह था जिसे गाय ने स्वयं अपने दैवी बल से राजा की परीक्षा लेने के निमित्त उत्पन्न किया था।

व्याकरण—हिंस्रैः—हिंस् + र। **दुष्प्रधर्षा**—दुस् + प्र + धृस् + खल् (अ), धातु की उपधा को गुण—स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् (आ)। **प्रहितम्**—प्र + धा + क्त (त)—'धा' धातु को 'हि' आदेश। **ईक्षणम्**—ईक्ष् + ल्युट् (अन) 'न' के स्थान पर 'ण'। **अभ्युत्पतनम्**—अभि + उत् + पत् + ल्युट् (अन)। **प्रसह्य**—प्र + सह् + क्त्वा—ल्यप्। **चकर्ष**—कृष् + लिट्—प्रथमपुरुष एकवचन का रूप।

समास—दुष्प्रधर्षा—दुःखेन प्रधृष्यते इति। **अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन**—अद्रेः शोभा अद्रिशोभा, अद्रिशोभायां प्रहितं ईक्षणं येन सः अद्रिशोभाप्रहितेक्षणः तेन। **अलक्षिताभ्युत्पनः**—न लक्षितं अभ्युत्पतनं यस्य सः।

टिप्पणियाँ—सा—वह गाय (नन्दिनी)। **मनसा अपि**—मन से—चित्त से भी। **दुष्प्रधर्षा**—बड़ी कठिनता से आक्रमण किये जाने योग्य। वह गाय साक्षात् "सिद्धि" के सदृश थी। अतः किसी हिंसक जन्तु द्वारा उस पर केवल मन से भी आक्रमण किया जाना सम्भव न था। **अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन**—हिमालय पर्वत की शोभा को देखने में लगे हुये थे नेत्र जिसके। राजा को विश्वास था कि कोई हिंसक जन्तु विचार मात्र से भी उस नन्दिनी पर आक्रकण करने का साहस नहीं कर सकता है। अतः वे गाय की ओर से पूर्णतया निश्चिन्त थे। इसी कारण जब गाय ने गुफा में प्रवेश किया तो उस समय वे पर्वतीय शोभा का निरीक्षण करने में संलग्न थे। **ईक्षण**—नेत्र अथवा दृष्टि। **शोभा**—सौन्दर्य "शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः" इति। **अलक्षिताभ्युत्पतनः**—[गाय के ऊपर] जिसका आक्रमण (झपटना) राजा द्वारा नहीं देखा जा सका था। राजा का ध्यान पर्वतीय-सौन्दर्य को देखने में लगा हुआ था—अतएव वह सिंह द्वारा गाय पर किये गये आक्रमण को नहीं देख सका। यह सिंह का विशेषण है।

प्रसह्य—ज़बरदस्ती, बलपूर्वक, हठपूर्वक। "हठात्" अर्थ में प्रयुक्त क्रिया विशेषण अव्यय है। **चकर्ष**—खींचा, घसीट कर ले गया है। □

प्रसङ्ग—गाय (नन्दिनी) के आर्त्तनाद ने राजा दिलीप का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया—

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥२८॥

अन्वयः—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं तदीयं आक्रन्दितं आर्त्तसाधोः नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु आदाय इव निवर्त्तयामास ॥२८।

संस्कृत-व्याख्या—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं=गुहायां गह्वरे निबद्धः व्याप्तः प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः तेन दीर्घं उच्चतरम्, तदीयम्=तत्सम्बन्धि=धेनुसम्बन्धि नन्दिन्याः इत्यर्थः, आक्रन्दितम्=आर्त्तनादम्, आर्त्तसाधोः=विपन्नजनहितैषिणः, नृपस्य=राज्ञः—दिलीपस्य, नगेन्द्रसक्ताम् नगेन्द्रे पर्वतराजे हिमालये सक्तां संलग्नाम् दृष्टिम्=ईक्षणम् नेत्रं वा, रश्मिषु=प्रग्रहेषु, आदाय=गृहीत्वा, इव निवर्त्तयामास=न्यवर्त्तयत्। यदा नन्दिनी पर्वतगुहां प्रविष्टा, राज्ञः दिलीपस्य च दृष्टिः पर्वतशोभानिरीक्षणे संलग्ना जाता, तदैव सिंहः तां गां बलात् आचकर्ष। भयभीता नन्दिनी आर्त्तनाद कृतवती। तस्याः आक्रन्दनशब्दं श्रुत्वा राजा शैल-शोभादर्शनसंलग्नां स्वदृष्टिं तथैव निवर्त्तयामास यथा सारथी रश्मिषु गृहीत्वा अश्वान् निवर्त्तयतीति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्) गुफा में व्याप्त (भरी हुई) प्रतिध्वनि से और भी अधिक उच्च स्वरता को प्राप्त हुये (तदीयम्) उस नन्दिनी के (आक्रन्दितम्) आर्त्तनाद [दुःख भरी चिल्लाहट] ने (आर्त्तसाधोः) दुःखित लोगों के हितैषी (नृपस्य) राजा दिलीप की (नगेन्द्रसक्ताम्) शैलराज हिमालय की शोभा देखने में संलग्न (दृष्टिम्) दृष्टि को (रश्मिषु आदाय इव) रस्सियों में पकड़े हुये के समान (निवर्त्तयामास) लौटा दिया।

भावार्थ—हिमालय की गुफा में प्रविष्ट होने के अनन्तर जब राजा दिलीप नन्दिनी की ओर से दृष्टि हटाकर पर्वतीय सौन्दर्य को देखने में संलग्न हो गये तो उसी समय सिंह ने गाय नन्दिनी के ऊपर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण को राजा न देख सके। अतएव नन्दिनी आर्त्तनाद (करुणक्रन्दन) करने लगी। पर्वतीय गुफा में व्याप्त प्रतिध्वनि से गाय की वह चिल्लाहट और भी अधिक

वृद्धि को प्राप्त हो गई। इस करुण-क्रन्दन ने राजा की पर्वतीय शोभा को देखने में संलग्न दृष्टि को उसी प्रकार अपनी ओर खींच लिया कि जिस भाँति कोई व्यक्ति रस्सियों में बाँधकर किसी वस्तु को बलात् खींच लिया करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गाय के करुण-क्रन्दन को सुनकर राजा ने पर्वत की ओर से अपनी दृष्टि को हटाकर नन्दिनी की ओर देखा।

अलङ्कार प्रस्तुत श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलंकार है।

व्याकरण—निबद्ध—नि + बन्ध् + क्त। **तदीयम्**—तद् + छ। **आक्रन्दितम्**—आ + क्रन्द् + क्त + इडागम होकर। **सक्ताम्**—सच् + क्त + टाप्। **दृष्टिः**—दृश् + क्तिन्। **आदाय**—आ + दा + ल्यप्। **निवर्त्तयामास**—नि + वृत् + णिच् + लिट्।

समास—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्—गुहायां निबद्धः गुहानिबद्धः गुहानिबद्धश्चासौ प्रतिशब्दश्च—गुहानिबद्धप्रतिशब्दः तेन दीर्घम् इति गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्। **तदीयम्**—तस्याः इदम्—तदीयम्। **आर्त्तसाधोः**—आर्त्तेषु साधुः इति आर्त्तसाधुः (सुप्सुपा समास) तस्य। **नगेन्द्रसक्ताम्**—नगानां इन्द्रः नगेन्द्रः तस्मिन् सक्ता इति नगेन्द्रसक्ता ताम्।

टिप्पणियाँ—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्—गुफा के अन्दर उत्पन्न हुयी प्रतिध्वनि (गूंज) के कारण और भी अधिक जोर की [चिल्लाहट]। **निबद्ध**—उत्पन्न हुयी। **प्रतिशब्द**—प्रतिध्वनि, गूंज। **तदीयम्**—तत्सम्बन्धी—गाय सम्बन्धी—गाय का। **आक्रन्दितम्**—आर्त्तनाद, दुःख से परिपूर्ण चिल्लाहट। **आर्त्तसाधोः**—दुःखियों की रक्षा करने वाले का। **नगेन्द्रसक्ताम्**—शैलराज हिमालय की ओर लगी हुयी। यह दृष्टि का विशेषण है। **दृष्टिम्**—नेत्र, नजर। **रश्मिषु**—रस्सी से, लगाम से। "किरणप्रग्रहौ रश्मी" इत्यमरः। **आदाय इव**—मानो बाँधकर। **निवर्त्तयामास**—लौटा लिया। जैसे कोई व्यक्ति किसी को रस्सी से बाँधकर लौटा लेता है—उसी प्रकार। अथवा जैसे लगाम पकड़कर अथवा खींचकर घोड़े को लौटा लिया जाया करता है उसी भाँति राजा की दृष्टि को नन्दिनी की चिल्लाहट ने उस ओर से (पर्वतीय शोभा को देखने की ओर से) अपनी ओर खींच लिया। भाव यह है कि गाय की चिल्लाहट सुनकर राजा गाय की ओर देखने लगे। □

प्रसङ्ग—राजा ने गाय के ऊपर बैठे हुए सिंह को देखा—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥२९॥

अन्वयः--धनुर्धरः स पाटालायां, गवि तस्थिवांसं केसरिणं सानुमतः धातुमय्यां अधित्यकायां प्रफुल्लं लोध्रद्रुमं इव ददर्श ॥२९॥

संस्कृत-व्याख्या—धनुर्धरः=चापधारी, स=दिलीपः, पाटलायाम् = श्वेतरक्तायाम्, गवि=धेनौ (नन्दिन्यां), **तस्थिवांसम्**—स्थितम्, केसरिणम् = सिंहम्, सानुमतः = पर्वतस्य, धातुमय्याम् = गैरिकादिधातुमय्याम्, अधित्यकायाम् पर्वतोर्ध्वभूमौ, प्रफुल्लम् = विकसितम्, लोध्रद्रुमम् = लोध्रनामक वृक्षविशेषम्. इव ददर्श = अपश्यत् [राजा दिलीपः श्वेतरक्तवर्णायां नन्दियां आक्रम्य स्थितं सिंहमपश्यत् । तस्मिन् समये गामाक्रम्यः स्थितः सिंहः पर्वतस्य गैरिकमय्यां ऊर्ध्वभूमौ विकसितः लोध्रवृक्षः इव प्रतीयते स्म—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(धनुर्धरः) **धनुष को धारण करने वाले** (स) **राजा दिलीप ने** (पाटलायां) **श्वेतरक्तवर्ण वाली** (गवि) **गाय के ऊपर** (तस्थिवांसम्) **स्थित** (केसरिणम) **सिंह को** (सानुमतः) **पर्वत की** (धातुमय्याम्) **गेरू आदि धातुओं से निर्मित** (अधित्यकायाम्) [पर्वत की] **ऊपरी भूमि पर** (प्रफुल्लम्) **फूले हुए** (लोध्रद्रुमम्) **लोध नामक वृक्ष के समान** (ददर्श) **देखा** ।

भावार्थ—जैसे ही राजा ने पर्वतीय शोभा को देखने में संलग्न अपनी दृष्टि को नन्दिनी के आर्त्तनाद के आधार पर उस ओर घुमाया वैसे ही उन्होंने श्वेत रक्तवर्ण की गाय के ऊपर बैठे हुए सिंह को देखा । रक्तवर्ण की उस गाय पर बैठा हुआ वह सिंह गेरू आदि धातुओं से निर्मित पर्वत की ऊपरीभूमि पर री, विकसित लोध नामक वृक्ष के सदृश प्रतीत हो रहा था।

अलङ्कार—इस श्लोक में "उपमा" अलंकार है ।

व्याकरण—**धनुर्धर**—धनु+धर—धृ+अच् । **तस्थिवांसम्**—स्था+क्वसु ("क्वसुश्च" सूत्र से) (वस्)—लिट्—लकार प्रयुक्त द्वित्व आदि कार्य होकर—तस्थिवस्—द्वितीया विभक्ति के एकवचन में—तस्थिवांसम् । **धातुमय्याम्**—धातु [धातु के विकार अर्थ में] + मयट् + ङीप्—धातुमयी—[सप्तमी एकवचन में—धातुमय्याम्] । **अधित्यकायाम्**—अधि+त्यकन्+टाप्—[सप्तमी

एकवचन में—अधित्यकायाम् । प्रफुल्लम्—प्र + फुल्ल् + अक्—द्वितीया एकवचन में—प्रफुल्लम् । सानुमतः—सानु + मतुप् ।

समास—धनुर्धरः—धरतीति धरः, धनुषः धरः—धनुर्धरः (षष्ठी तत्पुरुष) । **सानुमतः**—सानवः सन्ति अस्येति सानुमान—तस्य । **धातुमय्याम्**—धातोः गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्याम्—धातुमय्याम् । **केसरिण**—केसरा अस्य सन्तीति केसरी तम् । **लोध्रद्रुमम्**—लोध्रश्चासौ द्रुमश्च तं लोध्रद्रुमम् ।

टिप्पणियाँ—धनुर्धरः—धनुष को धारण करने वाला । **पाटलायाम्**—सफेद लाल—श्वेतयुक्त लालवर्ण की 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः"—इत्यमरः । यह गवि' का विशेषण है । **तस्थिवांसम्**—स्थितम्—बैठे हुये—स्थित । **केसरिणम्**—सिंह को । **सानुमतः**—चोटियों (शिखर भागों) से युक्त—पर्वत—"स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्" इत्यमरः । **धातुमय्याम्**—गैरिक (गेरू) आदि धातुओं से निर्मित । यह 'अधित्यकायाम्' का विशेषण है । **अधित्यकायाम्**—पर्वत के ऊपर की भूमि पर—"उपत्यकाद्रेरासन्नाभूमिरूर्ध्वमधित्यका" इत्यमरः अर्थात् पर्वत की निचली अथवा समीपवर्ती भूमि को उपत्यका तथा पर्वत की ऊपरी भूमि को 'अधित्यका' कहा जाता है । **प्रफुल्लम्**—खिला हुआ—विकसित । **लोध्रद्रुमम्**—लोधनामक वृक्ष । गेरू आदि धातुओं से निर्मित पर्वत के ऊपरी भाग पर उगे एवं खिले हुए लोध वृक्ष के सदृश ।

प्रसङ्ग—राजा दिलीप ने सिंह का वध कर देने के लिये तरकश से बाण को निकालने की इच्छा की—

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः ॥३०॥

अन्वयः—ततः मृगेन्द्रगामी शरण्यः प्रसभोद्धृतारिः नृपतिः जाताभिषङ्गः सन् वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् शरं उद्धर्तुं ऐच्छत् ॥३०॥

संस्कृत-व्याख्या—ततः = सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी = सिंहसदृशगतिशीलः, शरण्यः = शरणागतपालकः, प्रसभोद्धृतारिः = प्रसभेन हठात् उद्धृताः उन्मूलिताः अरयः शत्रवः येन तादृशः नृपतिः = राजा दिलीपः जाताभिशङ्गः = प्राप्तपराभवः सन्, वध्यस्य = मारणीयस्य, मृगेन्द्रस्य = सिंहस्य, वधाय = घाताय, निषङ्गात् = तूणीरात् शरम् = बाणम्, उद्धर्तुम् = निष्कासयितुम्,

ऐच्छत् = इयेष [सिंहदर्शनानन्तरं सिंहाक्रमणेन आत्मानं पराभूतं मत्वा क्रुद्धः सन् राजा दिलीपः अपमानकारिणं वध्यं तं सिंह हन्तुं तूणीरात् बाणमुद्धर्तुमभिलषितवानिति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(ततः) **तदनन्तर** [सिंह को देखने के पश्चात्] (मृगेन्द्रगामी) **सिंह के सदृश गमन करने वाले** (शरण्य) **शरणागतवत्सल** (प्रसभोद्धतारिः) **बलपूर्वक शत्रुओं का विनाश करने वाले** (नृपति) **राजा दिलीप ने** (जाताभिषङ्गः सन्) [अपने] **अपमान से क्रोधित होते हुए** (वध्यस्य) **मार दिये जाने योग्य** (मृगेन्द्रस्य) **सिंह के** (वधाय) **मार देने के लिये** (निषङ्गात्) **तरकस से** (शरम्) **बाण को** (उद्धर्तुम्) **निकालने के लिये** (एच्छत्) **इच्छा की।**

भावार्थ—अपनी विद्यमानता में अपनी आराध्या गौ पर सिंह द्वारा किये गए आक्रमण को राजा ने अपना अपमान समझा। अतः वे प्रतिशोध लेने के लिये उसे मारने के लिये तैयार हो गये। गौ की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर था; साथ ही वह शरणागतवत्सल भी था। अतएव राजा द्वारा वह गौ पूर्णतया रक्षणीय थी। राजा उसकी रक्षा करने में सर्वथा सक्षम थे। उसने अपने बड़े-बड़े शत्रुओं को अपने पराक्रम से नष्ट कर दिया था, फिर सिंह की तो उसके लिये हस्ती क्या थी। इन्हीं सब दृष्टियों से राजा ने उस सिंह का वध करने के लिये अपने तूणीर से बाण निकालना चाहा।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में "वृत्यनुप्रास" अलंकार है।

व्याकरण—मृगेन्द्रगामी—मृगेन्द्र + गम् + णिनि—धातु के स्वर को उपधावृद्धि होकर (प्रथमा-विभक्ति से एकवचन का रूप)। **शरण्यः** = "शरणे साधुः"—इस अर्थ में "तत्रसाधुः" से यत् प्रत्यय होकर—शरण + यत्। **उद्धृत**—उत् + हृ + क्त (त)। **अभिषङ्गः**—अभि + सञ्ज् + घञ्। **वध्यः**—हन् > वध् + य—यहाँ "दण्डादिभ्यो यः" से य' प्रत्यय होता है। **उद्धर्तुम्**—उत् + हृ तुमुन। **ऐच्छत्**—इष् + लङ् (प्रथमपुरुष एकवचन का रूप)।

समास—मृगेन्द्रगामी—मृगाणां इन्द्रः मृगेन्द्रः, मृगेन्द्रवत् गच्छतीति मृगेन्द्रगामी। **शरण्यः**—शरणे साधुः इति शरण्यः। **प्रसभोद्धतारिः**—प्रसभेन

बलात् उद्धृता विनाशिता: अरय: येन स: बहुव्रीहि समास । **जाताभिषङ्गः**—जात: अभिषङ्गः यस्य सः । **बध्यस्य**—वधमर्हतीति वध्य: तस्य । **नृपतिः**—नृणां पतिः नृपतिः । **मृगेन्द्रस्य**—मृगाणां—इन्द्र: मृगेन्द्र: तस्य ।

टिप्पणियाँ—ततः—तदनन्तर, तत्पश्चात् सिंह को देखने के पश्चात्) । **मृगेन्द्रगामी**—सिंह के सदृश गति (चाल) वाले । **शरण्यः**—शरण में आये हुए की रक्षा करने में समर्थ अर्थात् शरणागत वत्सल । **प्रसभोद्धृतारिः**—जबरदस्ती (बलपूर्वक) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने में पूर्णतया दक्ष अथवा शत्रुओं का नाश करने में पूर्णतया समर्थ । "प्रसभ तु बलात्कारो हठः" इत्यमरः । यह "नृपति" का विशेषण है । **जाताभिषङ्गः**—जिसे अपमानित किया गया हो अथवा जिसका अपमान हुआ हो । **अभिषङ्ग**—अपमान, तिरस्कार, पराभव । "अभिषङ्गः पराभवः" इत्यमरः । सिंह द्वारा गाय पर आक्रमण किया जाना ही राजा के लिये अपमान था । क्योंकि गाय की रक्षा का पूर्ण भार राजा पर था । राजा की उपस्थिति में यदि गाय पर कोई आक्रमण कर दे—तो यह उसके लिये अत्यन्त दुःख तथा अपमान की ही बात थी । **वध्यस्य**—वध करने योग्य (सिंह) का विशेषण । सिंह ने गाय पर आक्रमण किया था, अतः वह वध्य था । यह "मृगेन्द्रस्य" का विशेषण । **मृगेन्द्रस्य**—सिंह के । **वधाय**—वध करने के लिये-उसको मार देने के लिये । **निषङ्गात्**—तूणीर अथवा तरकश से । **उद्धर्त्तुम्**—निकाल लेने के लिये । **ऐच्छत्**—इच्छा की—चाहा ।

विशेष—इस श्लोक में प्रायः सभी विशेषणों का अनुकूल प्रयोग किया गया है । जैसे—मृगेन्द्र (सिंह) को मारता है । अतः उसकी योग्यता का प्रतिपादन करने हेतु राजा को 'मृगेन्द्रगामी' कहा जाना सर्वथा उचित ही है । इसी भाँति अन्य विशेषण भी अनुकूलता से परिपूर्ण हैं । □

प्रसङ्ग—राजा ने बाण निकालने के लिये तरकश पर हाथ रखा । उसका हाथ बाणों के मूल भाग से चिपककर रह गया—

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥३१॥

अन्वयः—प्रहर्तुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्) चित्रार्पितारम्भ इव अवतस्थे ॥३१॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रहर्तुः=प्रहारकर्तुः, तस्य=राज्ञः दिलीपस्य, वामेतरः =दक्षिणः करः=हस्तः 'नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे - नखानां प्रभाभिः रश्मिभिः भूषितानि अलङ्कृतानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि पक्षाः यस्य तस्मिन्, सायकपुङ्खे=शरमूलभागे, एव, सक्ताङ्गुलिः= प्रसक्तकरशाखः सन् चित्रार्पितारम्भः=चित्रे आलेख्ये अर्पित लिखित: आरम्भः शरनिष्कासनोद्योगः यस्य तादृशः इव=यथा, अवतस्थे=स्थितोऽभूत [यदा राजा दिलीपः सिंहस्य वधाय स्वतूणीरात् वाणं निष्कासयितुं प्रवृत्तः तदा तस्य दक्षिणः हस्तः शरस्य मूलभागे एव यत्र कंकपक्षिणः पत्राणि नृपहस्ताङ्गुलिनखकान्तिभिः अलंकृतानि आसन्-सक्ताङ्गुलि अभूत्। येन स शरं निष्कासयितुमसमर्थः बभूव। वाणमूलभागे सक्ताङ्गुलिः राजा दिलीपः तस्मिन् समये चित्रलिखितारम्भ इव प्रतीय तेस्म इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या (प्रहर्तुः) प्रहार करने वाले (तस्य) उस राजा दिलीप का (वामेतरः) दाहिना (करः) हाथ (नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे) नाखूनों से निकलने वाली कान्ति से अलङ्कृत कङ्कनामक पक्षिविशेष के पंखों से युक्त (सायकपुङ्खे) बाण के मूल-भाग में (एव) ही (सक्ताङ्गुलिः) चिपक गई हैं, अंगुलियाँ जिसकी ऐसा (चित्रार्पितारम्भ इव) मानो उसके बाण निकालने का यह प्रयास चित्रांकित कर दिया गया हो—इस स्थिति में वह (अवतस्थे) स्थित हो गया।

भावार्थ—सिंह को मार देने के लिये जैसे ही राजा ने तरकश से बाण निकालना चाहा वैसे ही उसके दाहिने हाथ की अंगुलियाँ बाण के मूलभाग से चिपक कर रह गई। बाण के निचले अथवा मूलभाग में कङ्क नामक पक्षी के पर लगे हुये थे। राजा ने जब बाण के मूलभाग का स्पर्श किया तब उसकी अंगुलियों के नाखूनों से निकलने वाली कान्ति से वे कङ्कपक्ष अलङ्कृत हो गये। बाण के मूल प्रदेश में हाथ की अंगुलियों के चिपक जाने से उसका हाथ ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों बाण निकलने के प्रयत्न के समय ही उसे उसी दशा में चित्रित कर दिया गया हो।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में "उत्प्रेक्षा" अलङ्कार है।

व्याकरण—प्रहर्तुः—प्र+हृ+तृच् (तृ)—प्रहर्तृ—(षष्ठी एकवचन का

रूप)। **सक्तः**—सच् + क्त (त) सक्तः। **अर्पित**—ऋ धातु णिजन्त—अर्पि + क्त (त)। **आरम्भः**—आ + रभ् + घञ्—धातु के भ् पहले 'नुम्' (न) अनुस्वार पर सवर्ण होकर—आरम्भः। **अवतस्थे**—अव + स्था + लिट् (आत्मनेपदी)—(प्रथमपुरुष एकवचन का रूप)।

समास—**नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे**—नखानां प्रभा नखप्रभाः, कङ्कस्य पत्राणि कङ्कपत्राणि, नखप्रभाभिः भूषितानि कङ्कपत्राणि यस्य तस्मिन्। **वामेतरः**—वामत इतरः इति वामेतरः (पञ्चमी तत्पुरुष)। **सायकपुङ्ख**—सायकस्य पुङ्खः पुच्छम् इति सायकपुङ्खः तस्मिन्। **सक्तांगुलिः**—सक्ताः अङ्गुलयः यस्य (करस्य) सः। **चित्रार्पितारम्भः**—चित्रे अर्पितः चित्रार्पितः, चित्रार्पितः आरम्भः (उद्योगः व्यापारः वा) यस्य सः।

टिप्पणियाँ—**प्रहर्तुः**—[सिंह को मार देने के निमित्त] प्रहार करने की इच्छा रखने वाले (राजा दिलीप) का। **वामेतरः**—बायें से अन्य (दूसरा) अर्थात् दाहिना। "वामः सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे" इत्यमरः। **करः**—हाथ [दाहिना हाथ]। **नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे** नाखूनों के अग्रभागों से निकलने वाली कान्ति से झिलमिलाते हुये कङ्क नामक पक्षिविशेष के पंखों से युक्त। यह 'सायकपुङ्खे' का विशेषण है। बाण के मूलभाग में कङ्कपक्षी के पंख (पर) लगे हुये थे। जब राजा ने बाण को बाहर निकालने हेतु अपना हाथ तरकश में डाला तो उस समय उनके हाथ की अंगुलियों के नाखूनों से निकलने वाली कान्ति (शोभा) उन कङ्कपत्रों पर पड़ी और वे कङ्कपत्र उस कान्ति (चमक) से सुशोभित हो गये। कङ्कपत्र—कङ्क नाम के पक्षी का पंख (पर)—"कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारे युधिष्ठिरे" इति विश्वः। **सायकपुङ्खे**—बाण की पूँछ (मूलभाग) में। **सक्तांगुलिः**—चिपक गई हैं अंगुलियाँ जिसकी अर्थात् जिस हाथ की अंगुलियाँ बाण के मूल-भाग में ही चिपक गई थी। यह "वामेतरः करः" का विशेषण है। **चित्रार्पितारम्भ इव**—जिसका कार्य चित्र में खिंचे हुये के समान हो गया था। बाण के मूलभाग में हाथ की अंगुलियों के चिपक जाने से राजा का हाथ ऐसा प्रतीत होता था मानों बाण को निकालने सम्बन्धी उसके प्रयास के समय से ही उसे उसी अवस्था में चित्रित कर दिया गया हो और परिणामस्वरूप वह उसी दशा में (हक्का-बक्का के सदृश-आश्चर्य में पड़े

हुये के समान] रह गया हो। जिस भाँति चित्रलिखित वस्तु तनिक भी इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकती उसी भाँति राजा का हाथ तनिक भी इधर-उधर हिल-डुल नहीं सकता था [अतः राजा 'जड़' के सदृश वहाँ खड़ा रहा।
अवतस्थे—रह गया, स्थित हो गया अथवा रुका हुआ रहा।

प्रसङ्ग—दिलीप कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे अतः उनका क्रोध और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गया। वे अन्दर ही अन्दर अपने तेज से जलने लगे—

बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्त-र्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥३२॥

अन्वयः—बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः राजा मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः भोगी इव अभ्यर्णं आगस्कृतं अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत ॥३२॥

संस्कृत-व्याख्या—बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः = बाहोः भुजस्य प्रतिष्ठम्भेन प्रतिबन्धेन विवृद्ध उद्दीप्तः मन्युः क्रोधो यस्य तादृशः, राजा = दिलीपः मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः = मन्त्रश्च ओषधिश्च ताभ्यां रुद्धं प्रतिबद्धं वीर्यं सामर्थ्यं यस्य तादृशः, भोगी इव = सर्पः इवः, अभ्यर्णम् = समीपस्थितम्, आगस्कृतम् = अपराधकारिणम्, अस्पृशद्भिः, अनामृशद्भिः, स्वतेजोभिः—आत्मप्रभावैः = स्वकीयैरेव तेजोभिः, अन्तः = अभ्यन्तरे, अदह्यत = दग्धोऽभवत्। यदा सिंहस्य वधाय प्रस्तुतस्य राज्ञः दिलीपस्य हस्तः बाणमूलभागे एवासक्तः संजातः तदा स अतिक्रुद्धो बभूव। किन्तु यदा स किंचिदपि कर्त्तुं असमर्थः जातः तदा स गारुडमन्त्रौषधिप्रभावेणरुद्धशक्तिः सर्पः इव अन्तरदह्यत इति भावः।।

हिन्दी-व्याख्या—(बाहुप्रतिष्ठम्भविवृद्धमन्युः) [अपनी] **बाहु के स्तब्ध** [क्रियाहीन] **हो जाने के कारण बढ़े हुये क्रोध से युक्त** (राजा) **राजा दिलीप** (मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः) [गरुड़सम्बन्धी] **मन्त्र तथा** [सर्प-विष के प्रभाव को नष्ट कर देने में समर्थ] **ओषधि के प्रयोग से नष्ट हुये सामर्थ्य वाले** (भोगी इव) **सर्प के समान** (अभ्यर्णम्) **समीप ही स्थित** (आगस्कृतम्) **अपराधी को** (अस्पृशद्भिः) **स्पर्श न कर सकने वाले** (स्वतेजोभिः) **अपने तेजों से** (अन्तः) **अन्दर ही अन्दर** (अदह्यत) **जलने लगे।**

भावार्थ—जब कोई व्यक्ति सामर्थ्य होते हुये भी विवशतावश अपराधी को दण्ड नहीं दे पाता है तब स्वयं वह ही अपने क्रोध से अन्दर ही अन्दर

जलने लगा करता है। जैसे—कोई सर्प बड़ा ही शक्तिशाली हो किन्तु उसकी सामर्थ्य मन्त्र तथा औषधि द्वारा नष्ट कर दी गयी हो तो वह अपने अपराधी को अपने समक्ष देखता हुआ होने पर भी उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता है तथा क्रोध के कारण स्वयं छटपटाने लगा करता है और बदला न ले सकने के कारण अन्दर ही अन्दर जलने लगा करता है। ठीक इसी भाँति राजा की भी दशा उस समय हो गई थी। शत्रु सिंह उसके समक्ष विद्यमान था। राजा चाहता था कि वह अपने शत्रु को बाण द्वारा मार दे किन्तु जैसे ही उसने तरकश से बाण निकालने की बात सोची वैसे ही उसका हाथ बाण की मूल पर चिपक कर रह गया और वह अपने शत्रु, अपराधी सिंह का कुछ भी न बिगाड़ सका। वह पूर्ण सामर्थ्यवान् तथा शक्तिशाली था किन्तु दैवी-शक्ति के अपने ऊपर प्रयुक्त हो जाने के कारण वह कुछ भी कर सकने में विवश हो गया था। अतः उसकी क्रोधाग्नि तथा उसका पराक्रमशील तेज उसे अन्दर ही अन्दर जल रहा था।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "उपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—**प्रतिष्टम्भ**—प्रति + स्तम्भ + घञ् (अ) 'स' को 'ष' तथा 'त' को 'ट' होकर 'प्रतिष्ठम्भः'। **विवृद्ध**—वि + वृध + क्त (त)–'त' को 'ध' तथा पूर्व 'ध' द होने पर—विवृद्ध। **रुद्ध**—रुध् + क्त। **भोगी**—भोग + इनि (इन्)। **अभ्यर्णम्**—अभि + अर्द् + क्त। **आगस्कृतम्**—आगस् + कृ + क्विप्—क्विप् का सर्वलोप होकर 'तुक' (त) का आगम—आगस्कृतम्—द्वितीया एकवचन में आगस्कृतम्। **अस्पृशद्भिः**—नञ् (अ) स्पृश + शतृ (अत्)—(तृतीया बहुवचन का रूप)। **अदह्यत**—दह (कर्मवाच्य) + यक् + लङ्लकार—(प्रथमपुरुष एकवचन में)।

समास—**बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः**—बाह्वोः प्रतिष्टम्भः इति बाहुप्रतिष्टम्भः तेन विवृद्धः मन्युः यस्य सः। **आगस्कृतम्**—आगः करोतीति आगस्कृत् (उपपद समास) तम्। **अस्पृशद्भिः**—न स्पृशद्भिः इति स्पृशद्भिः। **मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः**—मन्त्रश्च औषधिश्च इति मन्त्रौषधी ताभ्यां रुद्धं वीर्यं यस्य सः। **स्वतेजोभिः**—स्वस्य तेजांसि इति स्वतेजांसि तैः।

टिप्पणियाँ—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः—हाथ के रुक जाने से (स्तब्ध हो जाने) के कारण वृद्धि को प्राप्त हो गया है, क्रोध जिसका [ऐसा राजा] यह 'राजा' का विशेषण है। प्रतिष्टम्भ—प्रतिबन्ध लग जाना—रुक जाना। "प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः" इत्यमरः। मन्यु—क्रोध। "मन्युर्दैन्यक्रतौक्रुधि" इत्यमरः। **अभ्यर्णम्**—समीप में स्थित। **आगस्कृतम्**—अपराधी व्यक्ति—अपराध करने वाला। "आगोऽपराधो मन्युश्च" इत्यमरः। **अस्पृशद्भिः**—न छूने वाले [प्रहार कर सकने में असमर्थ]—यह "स्वतेजोभिः" का विशेषण है। **स्वतेजोभिः**—अपने तेजों अथवा पराक्रमों से। आगस्कृतम् अस्पृशद्भिस्तेजोभिः—अपराधी को छूने (मारने में) असमर्थ अपने तेज से। राजा अपने समक्ष खड़े अपने अपराधी को मार न सका। इस कारण वह अपने शरीर में अन्दर ही अन्दर जल उठा। **मन्त्रौषधिविरुद्धवीर्य**—मन्त्र तथा औषधियों के द्वारा जिसका पराक्रम अथवा प्रभाव नष्ट कर दिया गया है, ऐसे [सर्प]। **भोगी**—सर्प। भोग—फन ["भोगाः फणाः विद्यन्ते अस्य इति भोगी"] है जिसके अर्थात् सर्प। अन्तः—अन्दर ही अन्दर—भीतर ही भीतर। **अदह्यत**—जलने लगा—जल उठा। राजा के क्रोध की अग्नि तथा उसका तेज शरीर के अन्दर ही अन्दर प्रज्वलित होने लगा था।

प्रसङ्ग—राजा को सामर्थ्यहीन तथा आश्चर्य में पड़ा हुआ देखकर सिंह मनुष्य की वाणी में राजा से बोला—

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

अन्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वं आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन् निजगाद ॥३३॥

संस्कृत-व्याख्या—निगृहीतधेनुः = निगृहीता पीडिता धेनुः येन, तादृशः सिंहः = केसरी, आर्यगृह्यम् = आर्याणां सज्जनानां श्रेष्ठपुरुषाणां वा गृह्यम् पक्ष्यम् = सज्जनसम्मान्यमित्यर्थः, मनुवंशकेतुम् = मनोः वैवस्वतस्य मनोः वंशस्य कुलस्य केतुं ध्वजम् = मनुवंशश्रेष्ठमित्यर्थः, सिंहोरुसत्त्वम् = सिंहसदृशपराक्रमशीलम्, आत्मवृत्तौ = निजबाहुस्तम्भरूपव्यापारे, विस्मितम् = आश्चर्यचकितम् तम् = राजानम्, मनुष्यवाचा = मानववाण्या, विस्माययन् = आश्चर्यं प्रापयन्

निजगाद=अवोचत् (बाहुस्तम्भरूपेण व्यापारेण मानवश्रेष्ठः राजा दिलीपः पूर्वतः एव आश्चर्यचकितः आसीत् । किन्तु सः तस्या कारणं ज्ञातुं नाशक्नोत् । सिंहः एतादृशं तं दिलीपं मनुष्यवाचा पुनरपि ततोऽधिकं विस्मयमापयन्नुवाचेति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(निगृहीतधेनुः) **गाय को पीड़ित करने वाला** (सिंहः) (आर्यगृह्यम्) **सज्जनों द्वारा सम्माननीय** (मनुवंशकेतुम्) **मनुवंश की उच्चता के प्रतीक** (सिंहोरुसत्वम्) **सिंह के सदृश पराक्रमी अथवा बलवान्** (आत्मवृत्तौ) **अपनी भुजा के स्तब्ध हो जाने रूप व्यापार में** (विस्मितम्) आश्चर्यचकित (तम्) **उस राजा दिलीप को** (विस्माययन्) **और भी अधिक आश्चर्य में डालते हुये** (मनुष्यवाचा) **मानव की वाणी में** (निजगाद) **बोला।**

भावार्थ—बाहु के, बाण के मूलभाग में, स्तब्ध हो जाने के कारण राजा बड़े ही आश्चर्य में पड़ा हुआ था तथा उसके कारण को भी नहीं समझ पा रहा था। उसी समय राजा की ऐसी आश्चर्यचकित अवस्था को देखते हुये सिंह मनुष्य की वाणी में उनसे बोला। सिंह को मानव वाणी में बोलता देखकर राजा का आश्चर्य और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गया।

व्याकरण—**निगृहीत**—नि + ग्रह + क्त (त) धातु के 'र' को सम्प्रसारण 'ऋ' होकर-इडागम तथा 'इ' को दीर्घ होकर-निगृहीत रूप बना है। **आर्य**—ऋ + ण्यत्—ऋ को वृद्धि 'आर्' होकर आर्य। **गृह्यम्**—ग्रह + क्यप् (पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च" सूत्र से) 'र' को 'ऋ' सम्प्रसारण होने के बाद। **वृत्तिः**—वृत + क्तिन्। **विस्माययन्**—वि + स्मि + क्त (त)—विस्मित। **विस्मितम्**—वि + स्मि + णिच् + शतृ—शप् (अ) गुण-अयादेश होकर 'अ' को पररूप 'विस्माययन्' बना है। **निजगाद**—नि + गद + लिट्—प्रथमपुरुष एकवचन का रूप।

समास—**निगृहीतधेनुः**—निगृहीता धेनुः येन सः (बहुव्रीहि)। **आर्यगृह्यम्**—आर्याणाम् गृह्यम् = आर्यगृह्यम्। **मनुवंशकेतुम्**—मनोवंशः मनुवंशः तस्य केतुम्। **सिंहोरुसत्वम्**—सिंहः इव उरुसत्वः इति सिंहोरुसत्वः तम् (उपमानपूर्वपद कर्मधारय)। **आत्मवृत्तौ**—आत्मनः वृत्तिः आत्मवृत्तिः तस्याम्। **मनुष्यवाचा**—मनुष्यस्य वाक्-मनुष्यवाक् तया मनुष्यवाचा।

टिप्पणियाँ—निगृहीतधेनुः—गाय को पीड़ित करने वाला-नन्दिनी पर आक्रमण करने वाला (सिंह)। **आर्यगृह्यम्**—सज्जनों के लिये सम्माननीय—सज्जन पुरुष जिसका अत्यधिक सम्मान किया करते थे। **मनुवंशकेतुम्**—मनुवंश के लिये पताका (ध्वजा) स्वरूप अर्थात् मनुवंश को ऊँचा उठाने वाले सर्वश्रेष्ठ (राजा)। **सिंहोरुसत्वम्**—सिंह के सदृश महान् बलशाली। उरु=महान् बड़ा। सत्व=बल। **आत्मवृत्तौ**-अपने व्यापार में--जब दिलीप तरकश से बाण निकालना चाहते थे तब उनका हाथ बाण के मूलभाग से चिपक गया था। **विस्मितम्**—आश्चर्य में पड़े हुये—आश्चर्यचकित। राजा दिलीप का हाथ जब तूणीरस्थित बाण के मूलभाग से चिपक गया और वे क्रियाहीन के सदृश हो गये तो उन्हें इस पर महान् आश्चर्य हुआ क्योंकि पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। **तम्**—उस राजा दिलीप से। **मनुष्यवाचा**—मनुष्य की वाणी में। **विस्माययन्**—[और अधिक] आश्चर्य में डालता हुआ। एक तो दिलीप अपने हाथ के स्तब्ध हो जाने के कारण आश्चर्य में पड़ा ही हुआ था उस पर सिंह को मानव-वाणी में बोलते सुनकर उसका आश्चर्य और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। इस स्थल पर 'विस्मापयन्' पाठ भी मिलता है। किन्तु इसकी सिद्धि दुरूह-कल्पना द्वारा ही की जा सकती है। **निजगाद**—बोला। **उवाच**—अकथयत्। □

प्रसङ्ग—सिंह ने राजा दिलीप से कहा—

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलमशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥३४॥

अन्वयः—हे महीपाल ! तव श्रमेण अलम्, इतः प्रयुक्तं अपि अस्त्रं वृथा स्यात्। हि मारुतस्य पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये न मूर्च्छति ॥३४॥

संस्कृत-व्याख्या—हे महीपाल ! हे राजन् ! तव=ते (भवतः), श्रमेण=प्रयासेन=आयासेन वा, अलम्=वारणार्थकः। अयम्=तवास्त्रमोचनं श्रमेण साध्यं नास्ति=मयि प्रहाराय कृतप्रयासेन न किञ्चिदपि साध्यमित्यर्थः। इतः=अस्मिन् मयि, प्रयुक्तमपि=प्रक्षिप्तमपि, अस्त्रम्=आयुधम्, वृथा=निरर्थकं, स्यात्=भवेत् (भविष्यतीतिभावः) हि यतः, मारुतस्य वायोः, पादपोन्मूलनशक्ति=पादपानां वृक्षाणां उन्मूलने उत्पाटने शक्तिः सामर्थ्यं यस्य तादृशं रंहः=

वेगः, शिलोच्चये = शैल-पर्वते वा, न = नहि, मूर्च्छति = प्रभवति । [हे राजन् ! मयि प्रहाराय कृतेन तव प्रयासेन किमपि साध्यं न भविष्यति । यदि येन केन प्रकारेण त्वं बाणविमोचने समर्थोऽपि भवेः तथापि मयि प्रयुक्तं तवायुधं निरर्थकमेव भविष्यति । शरसंचालने समर्थोऽपि भवान् किमपि कर्तुं न शक्नोति । यथा वृक्षोत्पाटनसमर्थः वायोः वेगः पर्वते किमपि कर्तुं न प्रभवति तथैव भवत्प्रयुक्तं शरादिकमस्त्रमपि मयि किमपि कर्तुं न प्रभविष्यतीति भावः ।] ।

हिन्दी-व्याख्या—(हे महीपाल !) हे **राजन्** ! (तव) **आपका** (श्रमेण) **प्रयास** [अस्त्र छोड़ने रूपी प्रयास] (अलम्) **व्यर्थ है** । (इतः) **इस मेरे ऊपर अथवा इधर** [इस ओर] **मेरे ऊपर** (प्रयुक्तं अपि) **प्रयोग किया गया** (चलाया गया) **भी** (अस्त्रम्) **बाणादि अस्त्र** (वृथा स्यात्) **निरर्थक हो जायेगा** । (हि) **क्योंकि** (मारुतस्य) **वायु का** (पादपोन्मूलनशक्ति) **वृक्षों को उखाड़ देने की सामर्थ्य युक्त** (रंहः) **वेग** (शिलोच्चये) **पर्वत पर** (न मूर्च्छति) **अपना कोई प्रभाव नहीं डाल पाता है अर्थात् वह पर्वतों को नहीं उखाड़ सकता है** ।

भावार्थ—अपनी अवस्था (दशा) पर आश्चर्य में पड़े हुये राजा से सिंह ने मनुष्य की वाणी में कहा है—हे राजन् ! मुझ पर आप द्वारा बाणादि अस्त्र को चलाये जाने का प्रयास व्यर्थ है । यदि तुमने अस्त्र का प्रयोग कर भी दिया तो वह व्यर्थ हो जायेगा, मुझ पर उसका कोई प्रभाव न होगा । वायु के वेग में वृक्ष को उखाड़ फेंकने की सामर्थ्य अवश्य रहा करती है किन्तु वह वेग पर्वत पर अपना कोई भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता है अर्थात् वह वेग पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता है । इसी भाँति सामर्थ्य सम्पन्न होने पर भी आपके अस्त्रों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता है । अतः आप द्वारा बाणादि चलाये जाने का प्रयास पूर्णतया निरर्थक ही है ।

अलङ्कार—प्रस्तुत श्लोक में 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है इसमें उत्तरार्ध में विद्यमान सामान्य व्यापक-तथ्य के द्वारा पूर्वार्ध में वर्णित सिंह के विशिष्ट कथन का समर्थन किया गया है ।

व्याकरण—**हे महीपाल** !—मही + पाल् + अण् (अ) = महीपाल—सम्बोधन में—हे महीपाल । **श्रमेण अलम्**—जहाँ 'व्यर्थ' अथवा 'बस' अर्थ में 'अलम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ 'अलम्' शब्द के योग में तृतीया

विभक्ति आती है। **इत**—'इदम्' शब्द से तसिल् प्रत्यय होकर 'इदम्' को 'इश्' आदेश होकर 'इत.' बनता है। यह सार्वविभक्ति के 'तसिल्' प्रत्यय इस स्थल पर सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **प्रयुक्तम्**—प्र + युज् + क्त।

समास—महीपाल ! मह्रीं पृथ्वीं पालयतीति महीपालः सम्बोधन में। **पादपोन्मूलनशक्ति**—पादैः पिबन्तीति पादपाः तेषां उन्मूलने शक्तिः यस्य तत्। **शिलोच्चये**—शिलानां उच्चये शिलोच्चये।

टिप्पणियाँ—तव श्रमेण अलम्—आपका परिश्रम व्यर्थ है। अपने परिश्रम से बस अर्थात् आप अस्त्रादि छोड़ने का निरर्थक प्रयास न करें। **इतः**—इधर अर्थात् मेरे ऊपर। **प्रयुक्तम्**—प्रयोग किया गया हुआ—चलाया हुआ। **अस्त्रम्**—बाणादि अस्त्र। **वृथा स्यात्**—व्यर्थ होगा—बेकार हो जायगा, निरर्थक हो जायेगा। **मारुतस्य**—वायु सम्बन्धी वायु का। **पादपोन्मूलनशक्ति**—वृक्षों को उखाड़ देने की सामर्थ्य रखने वाला। यह "रंहः" का विशेषण है। **रंहः**—वेग। 'रंह' शब्द नपुंसकलिङ्ग है। इसके रूप 'पयस्' शब्द की भाँति चलते हैं। पयः, पयसि पयांसि—रंहः, रंहसी, रंहांसि। 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः। **शिलोच्चये**—पर्वत पर। **मूर्च्छति**—मूर्च्छित नहीं करती है अर्थात् सफल नहीं होती है। अथवा काम नहीं करती है। वृक्षों को उखाड़ देने की सामर्थ्य रखने वाली वायु पर्वतों पर कुछ भी काम नहीं करती है अर्थात् ऐसी उस वायु का पर्वतों पर कोई प्रभाव नहीं हो पाता है इस स्थल पर 'न मूर्च्छति' का भाव 'प्रभाव न कर पाना' ही उपयुक्त प्रतीत होता है। □

प्रसङ्ग—सिंह अपना परिचय राजा को देता है:—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्॥३५॥

अन्वयः—कैलासगौरं वृषं आरुरुक्षोः अष्टमूर्तेः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि॥३५॥

संस्कृत-व्याख्या—कैलासगौरम् = कैलास तन्नामकः पर्वतः सः इव गौरः शुभ्रवर्णः तम्, वृषम् = वृषभम्, आरुरुक्षोः = आरोहणकर्त्तुमिच्छोः, अष्टमूर्तेः = उमापतेः शिवस्य, पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् = पादयोः चरणयोः अर्पणं न्यासः तदेवानुग्रहः प्रसादः कृपा वा तेन पूतं पवित्रीकृतं पृष्ठं पृष्ठभागः यस्य तम्,

निकुम्भमित्रम् = निकुम्भनामकस्य शिवानुचरस्य सुहृदम्, कुम्भोदरं नाम = कुम्भोदर' इति नाम्ना प्रसिद्धम्, किङ्करम् = सेवकम्, माम् = सिंहम्, अवेहि = जानीहि [सिंहः राजानं कथयति—अहं साधारणः सिंहः न अस्मि यं भवान् हन्तुमुद्यतः । अहं तु भगवतः शिवस्य अनुचरः अस्मि । यदा शिवः स्वकीयश्वेत-वृषभोपरि आरोहणं कर्त्तुमिच्छति तदा स मम पृष्ठभागे स्वकीयौ पादौ निधाय आरोहति । एवं पादन्यासेन पूतपृष्ठभागोऽहं निकुम्भनामकस्य शिवानुचरस्य मित्रमस्मि । मम नाम 'कुम्भोदर' इति अस्ति । भवान् एवं मां शिवानुचरमेव जानीहि = इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(कैलासगौरम्) **कैलास पर्वत के समान गौरवर्ण वाले** (वृषभं) अपने बैल पर (आरुरुक्षोः) **चढ़ने की इच्छा रखने वाले** (अष्टमूर्तेः) **अष्टमूर्ति शिव के** (पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्) **चरणों के रखने से पवित्र हुई पीठ वाला** (निकुम्भमित्रम्) **निकुम्भ नामक शिवजी के सेवक का मित्र** (कुम्भोदरं नाम) **कुम्भोदर नाम का** (किङ्करम्) [शिवजी का] **सेवक** (माम्) **मुझको** (अवेहि) **समझो, जानों** ।

भावार्थ—सिंह राजा दिलीप से कहता है—हे राजन् ! आप मुझे साधारण सिंह न समझिये । मैं तो भगवान् शिव का सेवक हूँ । भगवान् शिव जब अपने गौरवर्ण वाले बैल पर चढ़ा करते हैं, तब वे मेरी पीठ पर अपने दोनों चरणों रखकर चढ़ा करते हैं । यह उनकी मुझ पर महती कृपा है कि जिससे मेरी पीठ पवित्र हो गई है । मैं शिवजी के निकुम्भ नामक अनुचर का मित्र हूँ । मेरा नात कुम्भोदर है । अत आप मुझे शिवजी का सेवक ही समझिये—साधारण सिंह नहीं । इसीलिये मैं कह रहा था कि आप मुझ पर बाण आदि अस्त्र छोड़ने का प्रयास न कीजिये ।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'वृत्त्यनुप्रास' अलङ्कार है ।

व्याकरण—आरुरुक्षोः—आ + रुह + सन् [रुरुक्ष] + उ—षष्ठी विभक्ति एकवचन का रूप । यहाँ "सनाशंसभिक्ष उः" से 'उ' प्रत्यय होता है । **अर्पणम्**—ऋ + णिच् [अपि] + ल्युट् (अन) + पूत—पू + क्त । **किङ्करम्**—किम् + कृ + ट (अ)—किङ्करः । **अवेहि**—अव + इण् + लोट् लकार ।

समास—कैलासगौरम्—कैलासवत् गौरम् इति (उपमान पूर्वपद कर्मधारय

समास)। **आरुरुक्षोः**—आरोढुं इच्छतीति आरुरुक्षुः तस्य। **अष्टमूर्त्तेः**—अष्टौ मूर्त्तयः यस्य सः अष्टमूर्तिः तस्य। **पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्**—पादयोः अर्पणम्—इति पादार्पणम् (षष्ठी तत्पुरुष), पादार्पणमेव अनुग्रहः इति पादार्पणानुग्रहः (कर्मधारय) तेन पूतं पृष्ठं यस्य स तम्। **निकुम्भमित्रम्**—निकुम्भस्य मित्रम् इति। **कुम्भोदरम्**—कुम्भ इव उदरं यस्य तम्।

टिप्पणियाँ—कैलासगौरम्—कैलास पर्वत के समान श्वेत अथवा गौरवर्ण वाला (बैल) यह 'वृषभ' का विशेषण है। शिवजी का बैल कैलास पर्वत के सदृश श्वेतवर्ण का (सफेद) था। **वृषभ**-बैल-नंदी नाम का—इसी बैल पर शंकर जी चढ़ा करते हैं। **आरुरुक्षोः—**चढ़ने की इच्छा रखने वाले। यह "अष्टमूर्त्तेः" का विशेषण है। **अष्टमूर्त्तेः**—आठ मूर्तियों वाले शिव का। शिव की आठ मूर्तियाँ ये मानी गयी हैं :

"पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च।
सूर्यचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टमूर्त्तयः॥" इति यादवः॥

पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा सोमयाजी—ये शिव की आठ मूर्तियाँ कहीं गई हैं। सभी दृश्यमान जगत् इनके अन्तर्गत आ जाता है। **पदार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्**—पैरों को रखने रूपी कृपा से पवित्र हो गई है पीठ जिसकी। **निकुम्भमित्रम्**—निकुम्भ नामक शिवजी के अनुचर का मित्र। **नाम किङ्करम्**—कुम्भोदर नाम से प्रसिद्ध। सिंह का नाम 'कुम्भोदर' ही था। **किङ्करम्**—भृत्य, नौकर, सेवक। **अवेहि**—जानो, समझो। □

प्रसङ्ग—समीप में ही स्थित देवदारु वृक्ष का परिचय देता हुआ सिंह अपने उपर्युक्त कथन की पुष्टि में आगे कहता है :—

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥३६॥

अन्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि, असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृतः। यः स्कन्दस्य मातुः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां रसज्ञः॥३६॥

संस्कृत-व्याख्या—पुरः = अग्रे, अमुम् = एनम्, देवदारुम् = तन्नामकं वृक्षम्, पश्यसि = अवलोकयसि, असौ = देवदारुः, वृषभध्वजेन = रुद्रेण-शिवेन वा पुत्रीकृतः = पुत्रतया स्वीकृतः। यः = देवदारुवृक्षः स्कन्दस्य = षडाननस्य,

कार्तिकेयस्य, मातु:=जनन्या:, हेमकुम्भस्तननि:सृतानाम्=स्वर्णघटस्तननिर्गतानाम, पयसाम्=क्षीराणां जलानां वा रसज्ञ:=स्वादवित्, अस्तीति शेष: [हे राजन् ! त्वं अग्रे स्थितममुं देवदारुवृक्षं अवलोकयसि, असौ देवदारु: शिवेन पुत्रत्वेन स्वीकृत: अस्ति । यत: अय पार्वत्या पुत्रवत् पालित: अस्ति, अत: एष देवदारु: तस्या: स्वर्णकुम्भरूपिस्वपयोधरनि:सृतै: जलै: कार्तिकेयवत् पोषितोऽस्ति —इति भाव:] ।

हिन्दी-व्याख्या—[आप] (पुर:) **आगे स्थित** (अमुम्) **इस** (देवदारुम्) **देवदारु वृक्ष को** (पश्यसि) **देख रहे हो** । (असौ) **यह देवदारु का वृक्ष** (वृषभध्वजेन) **शिवजी द्वारा** (पुत्रीकृत:) **पुत्र सदृश माना गया है** । (य) **जो यह देवदारु का वृक्ष** (स्कन्दस्य मातु:) **स्वामि कार्तिकेय की माता** (हेमकुम्भस्तननि:सृतानाम्) **स्वर्णनिर्मित घटरूपी स्तनों से निकलने वाले** [गिराये जाने वाले] (पयसाम्) **दुग्ध रूपी जल के** (रसज्ञ:) **रस को जानने वाला है** ।

भावार्थ—हे राजन् ! आप जो समीपस्थ देवदारु के वृक्ष को देख रहे हो यह शिवाजी के द्वारा पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया गया है । पार्वती जी ने इसे पुत्र के समान पाला-पोसा है । जिस भाँति कार्तिकेय ने अपनी माता के स्वर्णनिर्मित घड़े के सदृश स्तनों का दूध पिया है उसी भाँति देवदारु वृक्ष ने भी पार्वती के स्तनरूपी स्वर्णनिर्मित घड़ों से निकले हुये जल का पान किया है । तात्पर्य यह है कि पार्वती जी ने स्वयं ही इस देवदारु वृक्ष का सिंचन आदि कर पालन-पोषण किया है । अत: शिवजी द्वारा इसे पुत्रवत् स्वीकार किया गया है ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'रूपक' अलङ्कार है ।

व्याकरण—**पुत्रीकृत:**—पुत्र + च्वि, ईत्व + कृ + क्त (त) । **नि:सृत**—निस् + सृ + क्त । **रसज्ञ:**—रस + ज्ञा + क ।

समास—**देवदारुम्**—देवानां दारु: देवदारु: तम् । **वृषभध्वजेन**—वृषभो ध्वजे यस्य स: वृषभध्वज: तेन । **पुत्रीकृत:**—न पुत्र: अपुत्र:, अपुत्र: पुत्र कृत: इति पुत्रीकृत: । **हेमकुम्भस्तनी सृतानाम्**—हेम्न: कुम्भ: हेमकुम्भ:, स एव स्तन: इति हेमकुम्भस्तन: तस्मात् नि:सृतानि इति हेमकुम्भस्तनि:सृतानि तेषाम् ।

स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन: तस्मात् नि:सृता: तेषाम् । **रसज्ञ:**—रस जानातीति रसज्ञ: ।

टिप्पणियाँ—**पुरः**—आगे, सामने, समक्ष । **अमुम्**—इसको । **वृषभ-ध्वजेन**—बैल की ध्वजा वाला अथवा जिसकी ध्वजा में वृषभ' का चिह्न अंकित है । **पुत्रीकृतः**—पुत्र के सदृश स्वीकार कर लिया गया । **स्कन्दस्य मातुः**-कार्तिकेय की माता का । इसका सीधा सम्बन्ध 'पयसाम्' से है । **हेमकुम्भस्त-ननिःसृतानाम्**—सुवर्णनिर्मित घट रूपी स्तन से निकला हुआ (जल) । **पयसाम्**—जलों का । **रसज्ञः**—स्वाद लिया है अथवा आस्वादन किया है । जलों के स्वाद को जानने वाला है । "रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः" इति विश्वः ।

विशेष—स्वर्णनिर्मित कलशों के जलों से पार्वती जी उस देवदारु वृक्ष का प्रतिदिन सिंचन किया करती थीं । अतएव पार्वती जी के स्वर्णनिर्मित कलशरूपी स्तनों के जल से ही उसके सिंचन किये जाने का वर्णन उचित ही प्रतीत होता है । □

प्रसङ्ग—एक समय अपने गण्डस्थल को खुजलाते हुये किसी हाथी ने इसकी छाल को नष्ट कर दिया । यह देखकर पार्वती जी को उतना ही कष्ट हुआ कि जितना कष्ट देवासुर संग्राम में राक्षसों के शस्त्रों से घायल कार्तिकेय को देखकर हुआ था—

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद् वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥३७॥

अन्वयः—कदाचिद् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन अस्य त्वग् उन्मथिता अथ अद्रेः तनया असुरास्त्रैः आलीढं सेनान्यं इव एनं शुशोच ॥३७॥

संस्कृत-व्याख्या—कदाचिद् = कस्मिंश्चित्समये, कटम् = गण्डस्थलं कपोलं वा, कण्डूयमानेन = घर्षयता, वन्यद्विपेन = आरण्यकगजेन, अस्य = एतस्य = देवदारुवृक्षस्य, त्वग् = वल्कलम्, उन्मथिता = उत्पाटिता । अथ = तदनन्तरमेनं दृष्ट्वा, अद्रेः = हिमालयस्य, तनया = पुत्री = पार्वतीत्यर्थः, असुरास्त्रैः = दैत्यायुधैः, आलीढम् = क्षतम्, सेनान्यम् = स्कन्दम्, इव = यथा, एनम् = देवदारु-वृक्षम्, शुशोच = शोकं कृतवती । [सिंहः राजानं कथयति = एकदा कश्चिद् वन्यः गजः स्वकीयं गण्डस्थलं (कपोलं) कण्डूयमानः यस्य देवदारुवृक्षस्य वल्कलं उत्पाटि-तवान् । अस्य देवदारुवृक्षस्य एतादृशीं दशा दृष्ट्वा गौरी शोकार्त्ता सती तथैव

विलापं कृतवती यथा सा दैत्यानामस्त्रैः क्षतं स्वपुत्रं कार्तिकेयं दृष्ट्वा विलपितवती—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(कदाचिद्) **किसी समय** (कटम्) [अपने] **गण्डस्थल** [गाल] **को** (कण्डूयमानेन) **खुजलाते हुये** (वन्यद्विपेन) [किसी] **जंगली हाथी ने** (अस्य) **इस** [देवदारु वृक्ष] **की** (त्वग्) **छाल को** (उन्मथिता) **उपाट डाला—अथवा उचेल दिया** । (अथ) **तत्पश्चात्** [इसे देखकर] (अद्रेः) **हिमालय की** (तनया) **पुत्री** [पार्वती] **ने** (असुरास्त्रैः) [देवासुर संग्राम में] **राक्षसों के अस्त्रों से** (आलीढम्) **घायल** (सेनान्यम्) **कार्तिकेय के** (इव) **सदृश** (एनम्) **इसके लिये** (शुशोच) **शोक किया** ।

भावार्थ—सिंह राजा से कहता है कि एक बार अपने गण्डस्थल (गाल) की खुजलाहट को दूर करने के लिये एक जंगली हाथी ने अपने गण्डस्थल को इस देवदारु वृक्ष से रगड़ा था। उसके रगड़ने से इस वृक्ष की छाल उपट गई थी। अतः देवदारु वृक्ष की इस भाँति की दशा को देखकर पार्वती जी को वैसा ही महान् शोक हुआ जैसा कि देवासुर संग्राम के समय राक्षसों के अस्त्रों से घायल अपने पुत्र कार्तिकेय को देखकर शोक हुआ था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पार्वती जी को इस देवदारु वृक्ष के प्रति पुत्रवत् स्नेह था ।

अलङ्कार—इसमें "उपमा" अलङ्कार है ।

व्याकरण—**कण्डूयमानेन**—कण्डू + यक् (य) + शानच् = मुक् का आगम (म्) = कण्डूयमानः, तृतीया एकवचन में—कण्डूयमानेन । **वन्य**—बन + यत् (य) 'न' के पश्चात् 'अ' का लोप होने पर वन्यः । **द्विपः**—द्वि + पा + क (अ) —'आ' का लोप द्विपः । **उन्मथिता**—उत् + मथि = मन्थ + क्त (त) इडागम-न् का लोप = तदनन्तर 'टाप्' होकर उन्मथिता । **आलीढम्**—आ + लिह् + क्त (त), त को ध, ह को ढ—'इ' को दीर्घ होकर आलीढम् । **सेनान्यम्**—सेना + नी + क्विप् [द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप] ।

समास—**वन्यद्विपेन**—वने भवः वन्यः, द्वाभ्यां शुण्डाभ्यां पिबतीति द्विपः, वन्यश्चासौ द्विपः इति वन्यद्विपः तेन । **असुरास्त्रैः**—असुराणां अस्त्रैः इति । **सेनान्यम्**—सेनां नयतीति सेनानीः तम् ।

टिप्पणियाँ—**कण्डूयमानेन**—किसी समय, एकबार। **कण्डूयमानेन**—खुजलाते हुये—घर्षण करते हुये। **कटम्**—गण्डस्थल (गाल)—"गण्ड: कट" इत्यमर:। **वन्यद्विपेन**—जगली हाथी ने। **वन्य**—वन में उत्पन्न होने वाले अर्थात् जंगली। **द्विप:**—हाथी। **त्वक्**—खाल—पेड़ की छाल। यह "स्त्रीलिङ्ग" शब्द है। **उन्मथिता**—उपाट दी गई, उचेल दी, उखाड दी गयी। जब जंगली हाथी अपनी कनपटी की खुजलाहट को दूर करने के लिये अपनी कनपटी को उस वृक्ष से रगड़ने लगा तथा उस समय उसकी छाल उपट गयी। **अथ**—इसके पश्च अर्थात् पार्वती जी ने जब उधड़ी हुई छाल से युक्त इस देवदारु वृक्ष को देर तब [उनको महान् कष्ट हुआ]। **अद्रे:**—पर्वत की, हिमालय की। **तनया**—पुत्री अर्थात् पार्वती। **असुरास्त्रै:**—[देवों तथा दैत्यों के युद्ध में] राक्षसों द्वारा चलाये गये अस्त्रों से। **आलीढम्**—घायल—क्षत् विक्षत। **सेनान्यम्**—देवताओं के सेनापति स्वामी कार्तिकेय को—स्कन्द को। एकबार देवों तथा दैत्यों के युद्ध में स्कन्द (कार्तिकेय) बहुत अधिक घायल हो गये थे। उनको घायल देखकर पार्वती जी को महान् शोक हुआ था। इसी भाँति उधड़ी छाल से युक्त इस देवदारु वृक्ष को भी देखकर पार्वती जी को महान् शोक हुआ था। **इव**—सदृश, समान। **एनम्**—इस [देवदारु वृक्ष] को देखकर। **शुशोच**—शोक हुआ, सोच किया अथवा दु:खी हुयी। □

प्रसङ्ग—अत: इस देवदारु वृक्ष की रक्षा के निमित्त भगवान् शिव ने उसी समय से मेरी नियुक्ति यहाँ की है—

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारित: शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥३८॥

अन्वय:—तदाप्रभृति एव वनद्विपानां त्रासार्थम् शूलभृता अङ्कागतसत्त्ववृत्ति सिंहत्वं विधाय अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारित: ॥३८॥

संस्कृत-व्याख्या—तदाप्रभृति = तदानीं तनकालादारभ्य, एव, वनद्विपानां = वन्यगजानाम्, त्रासार्थम् = भयार्थम्, शूलभृता = त्रिशूलधारिणां शिवेन, अङ्कागतसत्त्ववृत्ति = अङ्कं समीपमागता: प्राप्ता: सत्त्वा: प्राणिन: वृत्ति: जीविका यस्मिन् तत्, सिंहत्वम् = मृगेन्द्रत्वम्, विधाय = कृत्वा, अस्मिन् = दृश्यमाने, अद्रिकुक्षौ = पर्वतगुहायाम्, अहम् = कुम्भोदर:, व्यापारित: = नियुक्त: [तस्मादेव

कलादारभ्य वन्यगजानां भयदर्शनार्थं अस्यां गुहायां शिवेन अहं नियोजितः। तेनैव मह्यं सिंहरूप दत्वा ममेयं जीविका निर्धारिता यद् यः कोऽपि प्राणी अत्रागच्छेत् स एव मम भोजनं भविष्यति—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(तदाप्रभृति एव) **उसी समय से लेकर** (वनद्विपानाम्) **जंगली हाथियों को** (त्रासार्थम्) **भय दिखाने के लिये** (शूलंभृता) **त्रिशूलधारी शिव ने** (अङ्कागतसत्ववृत्ति) **समीप में आये हुये प्राणी ही मेरी जीविका होंगे—इस विचार के साथ** (सिंहत्वम्) **सिंह के रूप को** (विधाय) **प्रदान कर** (अस्मिन्) **इस** (अद्रिकुक्षौ) **पर्वत-गुफा में** (अहम्) **मुझे** (व्यापारितः) **नियुक्त कर दिया है।**

भावार्थ—सिंह राजा को अपनी नियुक्ति के बारे में बतलाता हुआ कहता है—वनगज द्वारा देवदारु वृक्ष की छाल के उपाट देने के ही समय से लेकर जंगली हाथियों आदि वन्य प्राणियों को डराने की दृष्टि से भगवान् शिव ने सिंह का रूप देकर मुझे इस गुफा में इस देवदारु वृक्ष की रक्षा के निमित्त नियुक्त कर दिया है। साथ ही मुझे यह भी आदेश दिया है कि जो भी प्राणी इस गुफा में स्वयं ही आ जाया करेंगे—वे ही मेरे भोजन (भोज्यपदार्थ) होंगे। मेरे भाग्य से आज यह गाय ही मेरे भोजन के लिये यहाँ प्राप्त हुयी है।

व्याकरण—**शूलभृता**—शूल + भृ + क्विप्—तुगागम (न)—शूलभृत् (तृतीया विभक्ति एकवचन में शूलभृता)। **आगत**—आ + गम् + क्त (त)। **वृत्तिः**—वृत् + क्तिन् (त)। **सिंहत्वम्**—सिंह + त्व। **विधाय**—वि + धा + ल्यप्।

समास—**तदाप्रभृतिः**—तदाप्रभृति। **वनद्विपानाम्** वनस्य द्विपाः (षष्ठी तत्पुरुष) तेषाम्। **शूलभृता**—शूलं विभर्त्तीति शूलभृत् तेन। **अङ्कागतसत्त्ववृत्ति**—अङ्क आगताः इति अङ्कागताः (द्वितीय तत्पुरुष)। अङ्कागताश्च ते सत्त्वाः इति अङ्कागतसत्वाः वृत्तिः यस्मिन् तत्। **सिंहत्वम्**—सिंहस्य भावः सिंहत्वम्। **अद्रिकुक्षौ**—अद्रेः कुक्षौ (गुहायाम्)।

टिप्पणियाँ—**तदाप्रभृति**—उसी समय से लेकर—गज द्वारा देवदारु वृक्ष की छाल उपाट देने के पश्चात्। **वनद्विपानाम्**—वन के (जंगली) हाथियों के।

त्रासार्थम्—भय दिखलाने के निमित्त, डर देने हेतु। **शूलभृता**—त्रिशूल धारण करने वाले शिव के द्वारा। **अंकागतसत्त्ववृत्ति**—समीप में आये हुये अथवा स्वयं प्राप्त हुये प्राणी ही हैं जीविका (भोजन) जिसकी ऐसे (सिंहत्व को)। यह 'सिंहत्वम्' का विशेषण है। **सिंहत्वम्**—सिंह का रूप अर्थात् सिंह। **विधाय**—बनाकर—शिव ने मुझे सिंह का रूप प्रदान कर इस गुफा में इस देवदारु की रक्षार्थ नियुक्त किया। साथ ही यह भी निश्चित कर दिया कि जो भी प्राणी अकस्मात् मेरे समीप में आ जाये अथवा प्राप्त हो जाय—उन्हें खाकर मैं अपना जीवन निर्वाह करूँ। **अस्मिन्**—इस दृश्यमान—सामने ही दिखलाई पड़ने वाली (गुफा) में। **अद्रिकुक्षौ**—पर्वत की गुफा में। **व्यापारितः**—नियुक्त किया गया हूँ अथवा रख दिया गया हूँ। □

प्रसङ्ग—इस गुफा में स्वयं ही प्राप्त हुयी गाय नन्दिनी को अपना भोजन बतलाता हुआ सिंह राजा से निवेदन करता है—

तस्यालमेषाक्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥३९॥

अन्वयः—परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा सुरद्विषः चान्द्रमसी सुधा इव क्षुधितस्य मे तृप्त्यै अलम् ॥३९॥

संस्कृत-व्याख्या—परमेश्वरेण = महादेवेन, प्रदिष्टकाला = प्रदिष्टः निर्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः तादृशी, उपस्थिता = स्वयं प्राप्त, एषा = इयं पुरोदृश्यमाना धेनुरूपा, शोणितपारणा = शोणितस्य, रक्तस्य = पारणा व्रतान्तभोजनं रुधिररूपव्रतान्तभोजनमित्यर्थः, सुरद्विषः = दैत्यस्य राहोः, चान्द्रमसी = ऐन्दवी, सुधा इव = अमृतमिव, क्षुधितस्य = बुभुक्षायुक्तस्य, मे = मम सिंहस्य, तृप्त्यै = सन्तोषाय, अलम् = पर्याप्ता [चिरकालात् बुभुक्षितस्य मे पूर्णतया क्षुधानिवारणाय स्वयमेवात्र प्राप्ता ऐषा गौमे तृप्त्यै तथैव पर्याप्ता अस्ति यथा राहोः तृप्त्यै चन्द्रामृतं भवति—इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(परमेश्वरेण) भगवान् शिव द्वारा (प्रदिष्टकाला) निश्चित किये गये हुये समय पर [स्वयं ही] (उपस्थिता) उपस्थित हुई (एषा) यह (शोणितपारणा) गोरूप-रक्त का व्रत के अन्त में किया जाने वाला भोजन (सुरद्विषः) राहु को (चन्द्रमसी) चन्द्र सम्बन्धी अर्थात् चन्द्रमा के (सुधा एव)

अमृत के समान (क्षुधितस्य) **भूखे** (मे) **मेरी** (तृप्त्यै) **तृप्ति के लिये** (अलम्) **पर्याप्त है।**

भावार्थ—सिंह ने राजा से कहा कि इस गाय के खाये जाने का यह समय भगवान् शिव द्वारा निश्चित कर दिया गया था। इसी कारण आज यह मेरे पास व्रत के अन्त में खाये जाने वाले भोजन के रूप में स्वयं ही आकर उपस्थित हो गई है। अतएव मुझ भूखे के लिये इसका रक्त ही मेरा व्रतान्त भोजन होगा। जिस भाँति राहु के लिये चन्द्रमा का अमृत ही उसका सर्वश्रेष्ठ भोजन हुआ करता हैं तथा पर्याप्त समय के पश्चात् ही उसे इस अमृत की प्राप्ति हो पाती है इसी भाँति पर्याप्त समय से जिसकी भूख शान्त नहीं हो सकी थी ऐसे मेरे लिये (मेरी भूख को शान्त करने के लिये) यह गाय पर्याप्त होगी।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—**प्रविष्ट**—प्र + विश् + क्त (त) [कर्म में]। **उपस्थिता**—उप + स्था + क्त + टाप्। **चान्द्रमसी**—चन्द्रमस् + अण्—आदि वृद्धि होकर—ङीप्—चान्द्रमसी। **सुरद्विषः**—सुर + द्विष् + क्विप्—सुरद्विट्—षष्ठी विभक्ति के एक-वचन में—सुरद्विषः रूप बनेगा। **तृप्त्यै**—तृप् + क्तिन्—चतुर्थी विभक्ति के एकवचन का रूप। यहाँ 'अलम्' के योग में "नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवष-ड्योगाच्च" सूत्र से चतुर्थी विभक्ति हुई है।

समास—**परमेश्वरेण**—परमश्चासौ ईश्वरः परमेश्वरः तेन। **प्रदिष्टकाला**—प्रदिष्ट कालः यस्याः सा (बहुव्रीहि)। **शोणितपारणा**—शोणितस्य पारणा इति शोणितपारणा। **चन्द्रमसी**—चन्द्रमसः इयं इति चान्द्रमसी। **सुरद्विषः**—सुरान् द्वेष्टीति सुरद्विट् तस्य।

टिप्पणियाँ—**परमेश्वरेण**—शिवजी के द्वारा—महादेव से। **प्रदिष्टकाला**—भगवान् शङ्कर ने जिसका समय निश्चित कर दिया है। महादेव ने इस गाय का यह समय निश्चित कर दिया था कि इस समय यह मेरा भोज्य पदार्थ बनेगी। **उपस्थित**—प्राप्त हुई है, आई है। **एषा**—यह गाय। **शोणितपारणा**—रक्त का व्रतान्तभोजन। किसी व्रत की समाप्ति पर जो भोजन किया जाता है वह 'पारणा' कहलाता है। सिंह के कहने का तात्पर्य यह है कि आज 'गाय' को खाकर ही मेरी पारणा होगी। गाय का रक्त ही मेरी पारणा बनेगा। कुछ समय से मैं भूखा चला आ रहा हूँ। यही एक प्रकार का मेरा व्रत है। अतः

आज इस गाय का ही रक्तपान कर मैं अपना पारण करूँगा। **चान्द्रमसी**—चन्द्रमा का—चन्द्रमा से सम्बन्धित। इस शब्द का सीधा सम्बन्ध 'सुधा' से है। **सुधा इव**—चन्द्रमा के अमृत के समान। **सुरद्विषः**—देवताओं के शत्रु (राहु) का। ग्रहण के समय राहु चन्द्रमा को ग्रसा करता है तथा इसका पर्याप्त अमृत पिया करता है। सिंह के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस भाँति चन्द्रमा के अमृत का पान कर राहु अपनी तृप्ति किया करता है उसी भाँति इस गाय का रक्तपान कर मैं भी अपनी तृप्ति करूँगा। **क्षुधितस्य**—भूखे। **मे**—मेरी। **तृप्त्यै**—तृप्ति के लिये, सन्तोष के लिये। **अलम्**—पर्याप्त है। अर्थात् इससे मेरी पूर्ण तृप्ति हो जायेगी। □

प्रसङ्ग—अब सिंह राजा से कहता है कि आपने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया है। अतः आप अपने घर लौट जाइये। गाय तो मेरा भोजन बन गई है इसे यहीं छोड़कर आप जाइये—

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जा गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यशक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

अन्वयः—स त्वं लज्जा विहाय निवर्तस्व, भवान् गुरोः दर्शितशिष्यभक्तिः, यद् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं (स्यात्) तद् शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ॥४०॥

संस्कृत-व्याख्या—सः = एवं बाहुस्तम्भतया उपायशून्यः त्वम् = दिलीपः, लज्जाम् = त्रपाम्, विहाय = त्यक्त्वा, निवर्तस्व = परावर्तस्य। भवान् - त्वम्, गुरोः = वसिष्ठस्य, दर्शितशिष्यभक्तिः = दर्शिता प्रकटीकृता शिष्यस्य भक्तिः पूज्यजनेषु अनुरागबुद्धिः येन तादृशः, अस्तीतिशेषः। यद्, रक्ष्यम् = पाल्यम्, शस्त्रेण = आयुधेन—बाणादिना, अशक्यरक्षम् = रक्षितुमशक्यम् = स्यात् = भवेत्, तद्, शस्त्रभृताम् = शस्त्रधारिणाम्, यशः = कीर्तिम्, न क्षिणोति = न नाशयति। [हे राजन्! बाहुस्तम्भतया मद्वधे उपायशून्यः त्वं लज्जां त्यक्त्वा स्वाश्रमं निवर्तस्व। यद् रक्षणयोग्यं वस्तु शस्त्रेण रक्षणार्हं न भवति, तद् रक्षणीयं वस्तु नष्ट सदपि शस्त्रधारिणां कीर्तिं न नाशयति। अतस्त्वया निजश्रमगमने संकोचः न कार्यः—इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—(स त्वम्) [बाहु के स्तब्ध हो जाने से उपायहीन आप

(लज्जाम्) **लज्जा को** (विहाय) **छोड़कर** (निवर्त्तस्व) [**अपने वसिष्ठ-आश्रम को ही] लौट जाइये।** (भवान्) **अपने** (गुरोः) **गुरु वसिष्ठ के प्रति** (दर्शितशिष्य-भक्तिः) **अपनी शिष्य भक्ति दिखला दी है।** (यद्) **जो** (रक्ष्यम्) **रक्षणीय वस्तु** (शस्त्रेण) **शस्त्र के द्वारा भी** (अशक्यरक्ष्यम्) **रक्षा करने योग्य नहीं हुआ करती है** (तद्) **वह** (शस्त्रभृताम्) **शस्त्रधारियों के** (यशः) **यश अथवा कीर्ति को** (न क्षिणोति) **नष्ट नहीं किया करती है।**

भावार्थ—सिंह राजा से कह रहा है कि आपने अपने गुरु वसिष्ठ के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर दिया। गाय की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य था, उसे आपने पूरा निभाया। अब आपका हाथ अवरुद्ध हो गया है। कुछ भी कर सकने में आप असमर्थ हैं। अतः आप वापिस अपने आश्रम को लौट जायें। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है। यदि रक्षा करने योग्य गाय नन्दिनी की आप इस समय अपने शस्त्र द्वारा भी रक्षा नहीं कर पा रहे हैं तथा वह अब मेरे द्वारा खा ही ली जायेगी तो इससे शस्त्रधारी आपकी कीर्ति नष्ट नहीं होगी। यदि शस्त्र के द्वारा भी रक्षक व्यक्ति किसी वस्तु की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है तो इससे शस्त्रधारियों का यश कदापि क्षीण नहीं हुआ करता है। अतः आपका लौट जाना ही उचित है।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है।

व्याकरण—लज्जाम्—लज्ज् + अङ् + टाप् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप)। **विहाय**—वि + हा + ल्यप्। **निवर्त्तस्व**—नि + वृत् + लोट् लकार–मध्यम पुरुष एकवचन का रूप। **रक्ष्यम्**—रक्ष् + यत्। **शस्त्रभृताम्**—शस्त्र + भृ क्विप—तुगागम (त)—षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का रूप।

समास—दर्शितशिष्यभक्तिः—शिष्यस्य भक्तिः इति शिष्यभक्तिः, दर्शिता शिष्यभक्तिः येन स। **अशक्यरक्षम्**—न शक्या रक्षा यस्य तत् (बहुव्रीहि)। **शस्त्रभृताम्**—शस्त्राणि बिभर्तीति शस्त्रभृत् तेषाम्।

टिप्पणियाँ—सः त्वम्—वह तुम—बाहु के रुक जाने के कारण उत्पन्न असमर्थ तुमः। **लज्जाम्**—लज्जा को। सिंह को मार न सकने के कारण उत्पन्न हुई लज्जा को। **विहाय**—छोड़कर, त्यागकर। **निवर्त्तस्व**—लौट जाओ। **दर्शितशिष्यभक्तिः**—जिस (व्यक्ति) ने (गुरु के प्रति) शिष्यों के योग्य भक्ति को

दिखला दिया है। हे राजन् ! तुमने अपने गुरु वसिष्ठ के प्रति [शिष्य होने के नाते अपनी] भक्ति को दिखला दिया है अर्थात् अपने कर्त्तव्य को पूर्णरूप से निभाया है। **यद् रक्ष्यम्**—जो रक्षा करने योग्य [रक्षणीय] वस्तु अथवा रक्षणीय पदार्थ। **शस्त्रेण**—शस्त्र के द्वारा। **अशक्यरक्षम्**—जिसकी रक्षा किया जाना सम्भव नहीं है। **तत्**—वह (वस्तु जिसकी रक्षा किया जाना सम्भव नहीं है)। **शस्त्रभृताम्**—शस्त्रधारियों का, शस्त्र धारण करने वालों का। **क्षिणोति**—कम करता है, नष्ट करता है। सिंह के कहने का तात्पर्य यह है कि आपने अपना कर्तव्य करने में कोई भी कसर नहीं उठा रखी है और इस भांति अपने गुरु के प्रति अपनी शिष्य-भक्ति का पूर्ण परिचय दे दिया है। अब बाहु के रुक जाने के कारण आप गाय की रक्षा करने में असमर्थ हो गये हैं। यह तो आपकी विवशता है। अतः आप निर्दोष हैं। ऐसी स्थिति में आपके लिये अब लज्जा छोड़कर आश्रम के लिये लौट जाना ठीक ही है। क्योंकि यदि कोई रक्षणीय वस्तु शस्त्र द्वारा भी न बचाई जा सके तो उससे शस्त्रधारी व्यक्ति का यश कम नहींहुआ करता है। □

प्रसङ्ग—सिंह के उपर्युक्त कथन का राजा पर क्या प्रभाव हुआ—

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहृतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

अन्वयः—पुरुषाधिराजस्य मृगाधिराजस्य इति प्रगल्भं वचः निशम्य गिरिशप्रभावात् प्रत्याहृतास्त्रः आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार ॥४१॥

संस्कृत-व्याख्या—पुरुषाधिराजः = पुरुषाधिपः दिलीपः मृगाधिराजस्य = मृगेन्द्रस्य-सिंहस्य, इति = पूर्वोक्तम्, प्रगल्भम् = धृष्टतापूर्णम्, वचः = वचनं, निशम्य = आकर्ण्य, गिरिशप्रभावात् = शंकरप्रभावात्, प्रत्याहृतास्त्रः = प्रत्याहृतं रुद्धं अस्त्रं आयुधं यस्य तादृशः सन् आत्मनि स्वस्मिन् विषये, अवज्ञाम् = अपमानं तिरस्कारं वा, शिथिलीचकार = जहौ [सिंहस्य वचः श्रुत्वा दिलीपः भगवतः शिवस्य प्रभावात् स्वबाहोः स्तम्भं ज्ञात्वा, तज्जन्यमान न गणयामास मम अस्त्रस्य प्रतिरोधे कापि मानवीया शक्तिः न प्रभवति। एवं भगवतः शंकरस्यैव प्रभावो यन्ममास्त्रं प्रतिबद्धं जातमिति निश्चित्य दिलीपः स्वतिरस्कारं न गणयामासेति भावः॥

हिन्दी-व्याख्या—(पुरुषाधिराजः) **नराधिप राजा दिलीप** (मृगाधिराजस्य) **सिंह के** (इति) **पूर्वोक्त प्रकार से कथित** (प्रगल्भम्) **धृष्ट** (वचः) **वाणी को** (निशम्य) **सुनकर** (गिरिशप्रभावात्) **शिवजी के प्रभाव से** (प्रत्याहतास्त्रः) **अपने अस्त्र की रुकी गति को जानकर** (आत्मनि) **अपने से सम्बन्धित** (अवज्ञाम्) **अपमान को** (शिथिलीचकार) **कम कर दिया—अपना अपमान नहीं माना अथवा नहीं समझा ।**

भावार्थ—सिंह द्वारा कथित उपर्युक्त धृष्ट वचनों का श्रवण कर राजा बड़ा दुःखी था तथा वह अपना अपमान समझ रहा था किन्तु यह ज्ञात कर कि उसकी बाहु के अवरुद्ध हो जाने का कारण कोई मानवीय शक्ति नहीं है अपितु शिव का प्रताप ही उसका कारण है—उनको कुछ सान्त्वना प्राप्त हुयी तथा सिंह के द्वारा किये गये अपने अपमान को उन्होंने अपमान नहीं समझा ।

व्याकरण—**अधिराजः**—अधि + राजन् + टच् । **गिरिशः**—गिरि + शीङ् (अ) धातु की टि (ई) का लोप होकर गिरिशः बनता है । **प्रभावात्**—प्र + भू + घञ्—प्रभावः—पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में—प्रभावात् । **प्रत्याहत**—प्रति + आ + हन् + क्त (त) । **अवज्ञा**—अव + ज्ञा + अङ् (अ) + टाप् (आ) = अवज्ञा = द्वितीया विभक्ति के एकवचन में—अवज्ञाम् । **शिथिलीचकार**—शिथिल + च्वि + कृ + ईत्व + लिट् (लकार) ।

समास—**पुरुषाधिराजः**—अधिकः राजा अधिराजः पुरुषाणामधिराजः इति पुरुषाधिराजः (षष्ठी तत्पुरुष) । **मृगाधिराजस्य**—मृगाणामधिराजः, इति मृगाधिराजः तस्य । **गिरिशप्रभावात्**—गिरौ शेत इति गिरिशः, तस्य प्रभावः तस्मात् । **प्रत्याहतास्त्रः**—प्रत्याहतम् विफलम् अस्त्रं यस्य सः (बहुव्रीहि) ।

टिप्पणियाँ—**पुरुषाधिराजः**—मनुष्यों के अधीश्वर (राजा)—नराधिप । **मृगाधिराजस्य**—मृगों [जंगली जन्तुओं—प्राणियों] का स्वामी—(मृगत्वा गच्छन्तीति मृगाः । **इति**—इस प्रकार के—पूर्वोक्त प्रकार से [सिंह द्वारा] कहे गये हुये । **प्रगल्भम्**—धृष्टतापूर्ण—अभिमान से परिपूर्ण । **वचः**—वचन को, वाणी को । **निशम्य**—सुनकर । **गिरिशप्रभावात्**—भगवान् शङ्कर के प्रभाव में (तेज से) । **प्रत्याहतास्त्रः**—विफल (निष्फल) हो गया था अस्त्र जिसका । राजा ने यह समझकर कि मेरे अस्त्र भगवान् शिव के प्रभाव से विफल हो रहे

हैं। आत्मनि—अपने विषय में—स्वविषयक। अवज्ञाम्—अपमान अथवा तिरस्कार को। सिंह के ये वचन कि "तुम लौट जाओ"—"लज्जा छोड़ दो" इत्यादि लज्जाजनक वचनों को सुनकर राजा अपने को अपमानित अनुभव कर रहा था। शिथिलीचकार—कम कर दिया, शिथिल कर दिया—अर्थात् उस अपमान को अब अपमान के रूप में नहीं माना। □

प्रसङ्ग—राजा सिंह को उत्तर देने हेतु उद्यत हुआ—

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥४२॥

अन्वयः—वज्रं मुमुक्षन् त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृतः वज्रपाणिः इव तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः (स नृपः) एनं प्रत्यब्रवीत् ॥४२॥

संस्कृत-व्याख्या—वज्रम्=कुलिशम्, मुमुक्षन्=मोक्तुमिच्छन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन=त्र्यम्बकस्य शिवस्य वीक्षणेन विलोकनेन, जडीकृतः—निश्चेष्टीकृतः वज्रपाणिः=इन्द्रः, इव=यथा, तत्पूर्वभङ्गे=स पूर्वोक्तः एव पूर्वः प्रथमः भङ्गः प्रतिबन्धः यस्य तस्मिन्, इषुप्रयोगे=इषोः बाणस्य प्रयोगे प्रहारे, वितथप्रयत्नः= वितथः निष्फलीभूतः प्रयत्नः प्रयासः यस्य सः वितथप्रयत्नः निष्फलप्रयासः, स नृपः दिलीपः, एनम्=सिंहम्, प्रत्यब्रवीत्=प्रत्यवोचत् [पूर्वस्मिन् समये स्वायुधं वज्रं प्रयोक्तुमिच्छन् किन्तु भगवतः शङ्करस्य दृष्ट्या निष्पन्दीकृतः वज्रपाणिः इन्द्रः इव, पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वप्रथममेव बाणप्रयोगे विफलप्रयत्नः सः राजा एनं सिंह प्रत्युवाचेति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(वज्रम्) [अपने] **वज्र का** (मुमुक्षन्) **प्रहार करने की इच्छा रखने वाले किन्तु** (त्र्यम्बकवीक्षणेन) **शिवजी के देखने मात्र से** (जडीकृतः) **चेष्टाविहीन** (वज्रपाणि) **वज्रधारी इन्द्र के** (इव) **सदृश** (तत्पूर्वभङ्गे) **जीवन में प्रथम बार प्रतिबन्धित** (इषुप्रयोगे) **बाण के प्रयोग में** (वितथप्रयत्नः) **निष्फल प्रयास वाले** (स नृपः) **उस राजा दिलीप ने** (एनम्) **इस सिंह को** (प्रत्यब्रवीत्) **उत्तर दिया।**

भावार्थ—पूर्वकाल में जिस भाँति वज्र चलाने की इच्छा रखने वाले इन्द्र को शिवजी द्वारा देखने मात्र से ही निश्चेष्ट कर दिया गया था, उस भाँति राजा दिलीप भी जीवन में प्रथम बार बाण चलाने के प्रयोग में असफल हुये

थे। कहने का तात्पर्य यह है कि इस समय राजा दिलीप की वही स्थिति थी जो पूर्वकाल में इन्द्र की थी। ऐसी दशा में विद्यमान राजा दिलीप ने उस कुम्भोदर नामक सिंह को उत्तर दिया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—**भङ्ग**:भञ्ज् + घञ् (अ) 'ज्' के स्थान पर ग्' होकर—भङ्ग। **प्रयोग**:—प्र + युज् + घञ्। **प्रयत्न**:—प्र + यत् + नङ्। **मुमुक्षन्**—मुच + सन् + शतृ (अत्)। **वीक्षणम्**—वि + ईक्ष् + ल्युट् (अन-आदेश होकर) वीक्षणम्। **जडीकृत**:—जड + च्वि, कृ + क्त।

समास—**तत्पूर्वभङ्गे**—स एव पूर्वः भङ्गः यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि)। **इषुप्रयोग**—इषोः प्रयोगः इषुप्रयोगः तस्मिन्। **वितथप्रयत्नः**—वितथः विफलः प्रयत्नः यस्य स (बहुव्रीहि)। **मुमुक्षन्**—मोक्तुमिच्छन्। **त्र्यम्बकवीक्षणेन**—त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य सः त्र्यम्बकः शिवः, तस्य वीक्षणं त्र्यम्बकवीक्षणं तेन। **जडीकृतः**—न जडः अजडः, अजडः, जडः कृतः इति जडीकृतः। **वज्रपाणिः**—वज्रं पाणौ यस्य सः (बहुव्रीहि)।

टिप्पणियाँ—**तत्पूर्वभङ्गे**—उसी प्रथम विचलता में—जीवन में प्रथम बार ही जिसका अस्त्र-प्रयोग विफल हुआ था। पूर्व-प्रथम। भङ्ग—विफलता। **इषुप्रयोगे**—बाण के प्रयोग में अथवा बाण के प्रहार में। **वितथप्रयत्नः**—जिसका प्रयत्न बेकार हो गया था। तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः—बाणः का प्रयोग करने में विफलता सम्बन्धी यह अवसर राजा दिलीप के जीवन में प्रथम बार ही आया था, और वह भी भगवान् शिव के द्वारा राजा की भुजा अवरुद्ध कर दिये जाने के कारण ही। **मुमुक्षन्**—(बाण) को छोड़ने की इच्छा रखने वाले (इन्द्र)। यह वज्रपाणि इन्द्र का विशेषण है **त्र्यम्बकवीक्षणेन**—भगवान् शङ्कर के द्वारा देखने मात्र से ही। **जडीकृत**—चेष्टाविहीन कर दिया गया। शिवजी के देखने मात्र से ही इन्द्र की वज्र को चलाने की गति अवरुद्ध हो गयी थी। वह पूर्णतया निश्चेष्ट हो गये तथा वज्र का प्रयोग न कर सके। इस सम्बन्ध में महाभारत में एक कथा आती है—एक बार राक्षसों ने देवताओं को बहुत सताया। देवगण भगवान् शिव के समीप गये और उनसे अपने कष्ट का निवेदन किया। शिवजी ने राक्षसों का नाश कर उनके नगरों

को भी जला दिया। उसी समय भगवती दुर्गा भी गोद में एक सुन्दर बालक लिये वहाँ आ गई। इन्द्र ने उस सुन्दर बालक को मार देने के निमित्त अपना वज्र उठाया किन्तु जब बालक ने उनकी ओर दृष्टिपात किया तो इन्द्र जड़ के सदृश हो गये तथा उनका अस्त्र न चल सका। यह बालक ही शिव था। शिवजी ने भगवती दुर्गा को प्रसन्न करने के लिये बालक का रूप धारण कर लिया था। इस सम्बन्ध में एक दूसरी पौराणिक कथा भी उपलब्ध होती है और वह यह है कि वैद्य अश्विनीकुमारों ने दिव्य औषधियों के प्रयोग से च्यवन नामक ऋषि को युवा बना दिया था। इससे प्रसन्न होकर च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमारों को यज्ञ में सोमपान करने का अधिकारी बनाया। इन्द्र सोमपान कराये जाने के विरोधी थे। उनके द्वारा विरोध किये जाने पर भी च्यवन ऋषि अपनी बात पर दृढ़ बने रहे। इस पर क्रोधित होकर इन्द्र ने अपना आयुध 'वज्र' उठाया। किन्तु उनके इष्टदेव भगवान् शङ्कर ने इन्द्र को निश्चेष्ट कर दिया। **वज्रपाणिः**—वज्र है हाथ में जिनके ऐसे इन्द्र। इव—[के] समान। □

प्रसङ्ग—राजा दिलीप उस सिंह से कहते हैं।

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान् भावमतोऽभिधास्ये ॥

अन्वयः—हे मृगेन्द्र! संरुद्धचेष्टस्य (मम) तद् वचः कामं हास्यं (अस्ति) यत् (वचः) अहं विवक्षुः (अस्मि)। हि भवान् प्राणभृतां अन्तर्गतं सर्वं भावं वेद अतः अभिधास्ये ॥४३॥

संस्कृत-व्याख्या—हे मृगेन्द्र! = हे सिंह! संरुद्धचेष्टस्य = संरुद्धा प्रतिबद्धा चेष्टा व्यापारः यस्य तस्य—करसंचालनादिचेष्टारहितस्य (मम), तद् = अग्रं वक्ष्यमाणम् वचः = वचनम्. कामम् = यथेष्टम्, हास्यम् = उपहासास्पदम् (अस्ति), यद् = वचः, अहम् = दिलीपः, विवक्षुः = वक्तुमिच्छुः (अस्मि)। हि = यतः. भवान्, प्राणभृताम = प्राणधारिणाम्, अन्तर्गतम् = हृदयगतम्, सर्वम् = सम्पूर्णम्, भावम् = अभिप्रायम्, वेद = जानाति, अतः = अस्मात् कारणात् (अहम्) अभिधास्ये = कथयिष्यामि (एव) हे सिंह! सम्प्रति मदीया करचालनादि रूपासर्वा चेष्टा संरुद्धा वर्तते, भुजप्रतिष्टम्भेन न मया किमपि कर्तुं शक्यते, अतो व्यवहारिकदृष्ट्या मदीयं तद् कथनं यत् अहं इदानीं वक्तुमिच्छामि

उपहासास्पद भविष्यति। किन्तु भवान् प्राणिनां हृद्गतं सर्वं जानात्येव, अतोऽहं कथयिष्याम्येवेति भावः।

हिन्दी व्याख्या—(हे मृगेन्द्र) हे सिंह ! (संरुद्धचेष्टस्य) **हस्त-चालनादि चेष्टारहित मुझ दिलीप का** (तद्) **वह कहने योग्य** (वचः) **वचन** (कामम्) **यथेष्ट रूप से** (हास्यम्) **हास्यास्पद है**, (यद्) **जिस वचन को** (अहम) **मैं** (विवक्षु) **कहने की इच्छा रखता हूँ**। (हि) **चूँकि** (भवान्) **आप** (प्राणभृताम्) **प्राणधारियों के** (अन्तर्गतम्) **हृदय में विद्यमान** (सर्वं भावम्) **सम्पूर्ण भावों** [भावनाओं अथवा विचारों] **को**, [भलीभाँति] (जानाति) **जानते ही हैं। अतः इसलिये अथवा इस कारण मैं** (अभिधास्ये) [अपनी बात] **कहूँगा ही।**

भावार्थ—राजा सिंह से कह रहा है कि हे सिंह ! संसार में शक्तिहीन एवं हाथ के संचालनादि क्रिया से रहित व्यक्ति का कथन उपहासास्पद ही हुआ करता है तथा उसे विश्वसनीय भी नहीं समझा जाया करता है। मैं भी इसी प्रकार की स्थिति में हूँ क्योंकि शिवजी के प्रभाव से मैं क्रियाहीन होकर (इस समय) शक्तिहीन (सदृश) हो गया हूँ। अतः मैं जो कुछ भी कहूँगा वह सब हँसने योग्य ही होगा। किन्तु आप तो प्राणियों के हृद्गत सभी भावों को भली-भाँति जानते ही हैं, अतः मैं आपसे कहूँगा अवश्य। क्योंकि हृद्गत—भावों के ज्ञाता होने के कारण, आपसे मैं अपने भावों को छिपा तो सकता ही नहीं हूँ फिर कथन करने में ही क्या हानि है ? अतः उनको कह देना उपयुक्त ही होगा।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है।

व्याकरण—**संरुद्धा**—सम् + रुध् + क्त (त) के स्थान पर ध, पूर्व ध् को द्, म को अनुस्वार होकर संरुद्ध + टाप् = संरुद्धा। **चेष्टा**—चेष्ट् + अ + टाप्। **हास्यम्**—हस् + ण्यत्—उपधावृद्धि। **विवक्षुः**—वच् + सन् + उ। **प्राणभृताम्**—प्राण + भृ + क्विप्—तुगागम-प्राणभृत् फिर षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में प्राणभृताम्। **अभिधास्ये**—अभि + धा लृट्लकार—उत्तमपुरुष एकवचन का रूप।

समास—**संरुद्धचेष्टस्य**—संरुद्धा चेष्टा यस्य सः तस्य (बहुव्रीहि)। हे मृगेन्द्र = मृगाणामिन्द्रः मृगेन्द्रः तत्सम्बोधने हे मृगेन्द्र ! **हास्यम्**—हसितुं

योग्यं हास्यम् । **विवक्षुः**—वक्तुमिच्छति विवक्षति, विवक्षतीति विवक्षुः। **प्राणभृताम्**—प्राणान् बिभ्रतीति प्राणभृतः तेषाम् । **अन्तर्गतम्**—अन्तः गतमिति अन्तर्गतम् ।

टिप्पणियाँ—संरुद्धचेष्टस्य—जिसकी सब प्रकार की चेष्टायें (प्रयत्न) रुक गई थीं—उस राजा दिलीप का—प्रयत्नविहीन राजा का । संरुद्ध—रुका हुआ । **तद्**—(कथन किये जाने योग्य) वह । **वचः**—वचन अथवा कथन। **कामम्**—पर्याप्त रूप से—यथेष्ट रूप से । **हास्यम्**—हास्यास्यपद—हँसने योग्य, हँसी किये जाने योग्य । **विवक्षुः**—कहने को इच्छा रखने वाला । **हि**—चूंकि । **प्राणभृताम्**—प्राणधारियों के, जीवधारियों के, प्राणियों के । **अन्तर्गतम्**—भीतर की,—हृदगत अथवा हृदय में विद्यमान । **वेद**—जाने वाले हो, ज्ञाता हो, जानते हो । **अतः**—इस कारण, इसलिये । **अभिधास्ये**—कहूँगा । □

प्रसङ्ग—राजा दिलीप सिंह से कहते हैं—

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

अन्वयः—स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः स मे मान्य, पुरस्ताद् नश्यत् आहिताग्नेः गुरो इदं धनं अपि अनुपेक्षणीयम् ॥४४॥

संस्कृत-व्याख्या—स्थावरजङ्गमानाम् = तिष्ठन्तीति स्थावराः तरुशैलादयः, गच्छन्तीति जङ्गमाः मनुष्यपश्वादया तेषां चराचराणां पदार्थानाम्, सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः = सर्गश्च उत्पत्तिश्च स्थितिश्च पालनं च प्रत्यवहारश्च सहारश्च तेषां हेतुः कारणं = उत्पत्तिपालननाशकारणमित्यर्थः, सः = शिवः, मे = मम, दिलीपस्य, मान्यः = पूज्यः अस्तीति शेषः । परस्तात् = स्वसमक्षं अग्रे वा, नश्यत् = नाशं गच्छत्, आहिताग्नेः = कृताग्न्याधानस्य-अग्निहोत्रिणः इत्यर्थः. गुरोः = वसिष्ठस्य, इदम् = दृश्यमानम्, धनमपि = गोरूपधनमपि, अनुपेक्षणीयम् = उपेक्षणीयं नास्ति = अपितु सर्वतोभावेन रक्षणीयमेवास्ति [यद्यपि जडचेतनानां सर्वेषां प्राणिनां सृष्टिपालनविनाशकर्त्ता सः शिवः मे पूज्यः, तस्यादेश मया सर्वदैव स्वीकार्यः, तथापि स्वसमक्षमेव नश्यत् गुरोः वसिष्ठस्य इदं गोरूपं धनमपि उपेक्षायोग्य नास्ति अपितु सर्वथैव मया रक्षणीयमेवस्तीति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(स्थावरजङ्गमानाम्) जड़ [वृक्ष पर्वत, आदि] एवं चेतन [मनुष्य, पशु आदि] सभी के (सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः) सृष्टि [रचना], स्थिति

और प्रलय के कारण (सः) वह शिव (मे) मेरे (मान्यः) पूज्य एवं मान्य हैं। (पुरस्तात्) मेरे समक्ष (नश्यत्) नष्ट होता हुआ (आहिताग्नेः) अग्निहोत्र करने वाले (गुरोः) मुनि वसिष्ठ का (इदम् धनमपि) यह गोरूप धन भी (अनुपेक्षणीयम्) उपेक्षा किये जाने योग्य नहीं है अपितु रक्षणीय ही है।

भावार्थ—जो जड-चेतन रूप, इस समस्त विश्व के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकर्ता शिव हैं, वे मेरे परम पूज्य एवं आराध्य हैं। उनकी आज्ञा मेरे लिये सर्वदा मान्य एवं स्वीकरणीय है। साथ ही मेरे गुरु वसिष्ठ का यह गोरूप धन (जिसकी रक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व मुझ ही पर है) मेरे सामने मेरे [देखते-२] ही नष्ट हो जाय तथा मैं कुछ भी न कर सकूं, यह भी मेरे लिये उचित नहीं; मेरे लिये दोनों बातें ध्यान देने योग्य ही हैं। भगवान् शिव तो मेरे मान्य हैं ही। साथ ही गुरु की इस गाय की रक्षा करना भी मेरा ही कर्तव्य है। मैं इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ।

व्याकरण—स्थावर—स्था + वरच् (वर)—स्थावरः। जङ्गम—जंगम् + अच् (अ) जंगमः। सर्ग—सृज् + घञ्। स्थिति—स्था + क्तिन्। प्रत्यवहार—प्रति + अव + हृ + घञ्। मान्यः—मत् + ण्यत्। नश्यत्—नश् + शतृ (अत्)। आहित—आ + धा + क्त—'धा' के स्थान पर 'हि' आदेश = आहित। उपेक्षणीय—उप + ईक्ष् + अनीयर्—उपेक्षणीय—नञ् + (अन्) + उपेक्षणीय—अनुपेक्षणीय।

समास—स्थावरजंगमानाम्—स्थावराश्च जंगमाश्चेति स्थावरजंगमाः (द्वन्द्व समास) तेषाम्। सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः—सर्गश्च स्थितिश्च प्रत्यवहारश्च इति सर्गस्थितिप्रत्यवहाराः (द्वन्द्व समास) तेषां हेतुः इति सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः। आहिताग्नेः—आहितः अग्निः येन सः तस्य। अनुपेक्षणीयम्—न उपेक्षणीयम् अनुपेक्षणीयम् (नञ् तत्पुरुष)।

टिप्पणियाँ—स्थावरजंगमानाम्—स्थावर (अचर जड़) और जंगम (जड़-चेतन) पदार्थों की। जड़ (वृक्ष, पर्वत इत्यादि) तथा चेतन (मनुष्य एवं पशु) आदि की। सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः—उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण। सर्ग—उत्पत्ति। स्थिति—पालन। प्रत्यवहार—नाश। सः—वह (शिव)। मान्यः—पूज्य, मान्य। पुरस्तात्—आगे, सामने, समक्ष। नश्यत्—नष्ट होता हुआ। आँखों के समक्ष नष्ट होता हुआ। इदम्—यह—प्रत्यक्ष दृश्यमान।

धनम्—धन—गायरूपी धन। आहिताग्नेः—जिन्होंने नियमपूर्वक अग्न्याधान किया है ऐसे (गुरु-वसिष्ठ)। यह 'गुरोः' का विशेषण है। अग्निहोत्र करने वाले [गुरु वसिष्ठ] का। अनुपेक्षणीयम्—उपेक्षा करने योग्य नहीं है। गुरु-वसिष्ठ का यह (गो रूपी) धन जो मेरी आँखों के सामने नष्ट होने जा रहा है, मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता हूँ। □

प्रसङ्ग—सिंह की भूख भी शान्त हो जाय तथा गाय की भी रक्षा हो जाये—ऐसे प्रकार को राजा दिलीप सिंह को बतलाते हुये कहता है,—

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ।४५।।

अन्वयः—स त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं प्रसीद। दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम् ।।४५।।

संस्कृत-व्याख्या—सः=समागतप्राणिवृत्तिः, त्वम् (सिंहः) मदीयेन=मामकेन, देहेन=शरीरेण, शरीरवृत्तिम्=स्वशरीरजीविका=क्षुधाशान्ति वा निर्वर्तयितुम्=सम्पादयितुम्, प्रसीद=अनुग्रहं कुरुष्व। दिनावसानोत्सुकबालवत्सा=दिनस्य दिवसस्य अवसाने समाप्तौ उत्सुकः उत्कण्ठितः बालः शिशुरूपः वत्सः यस्याः सा एतादृशी, महर्षेः=वसिष्ठस्य, इयम्=एषा, धेनुः=गौः, विसृज्यताम्=मुच्यताम् [हे सिंह ! यतस्त्वं समीपागतसत्त्ववृत्तिः असि भगवतः शंकरस्यापि आज्ञा एतादृशी एवास्ति, अतः त्वं मामकेन शरीरेण मां भक्षयित्वा—इत्यर्थः] स्वक्षुधानिवृत्तिं कुरु। इमां गां मुञ्च। सायंकाले अस्याः वत्सः अस्यै समुत्सुको भविष्यति, अतस्त्वं इमां गां मुक्त्वा अस्याः स्थाने मां भक्षयित्वा स्वक्षुधानिवृत्तिं साधय—इति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(स) वह स्वयं प्राप्त हुये प्राणियों से ही अपनी जीविका चलाने वाले (त्वम्) तुम (मदीयेन) मेरे (देहेन) शरीर से (शरीरवृत्तिम्) अपने शरीर के निर्वाह का (निर्वर्तयितुम्) सम्पादन करने के लिये (प्रसीद) कृपा करो। (दिनावसानोत्सुकबालवत्सा) सायंकाल के समय जिसका छोटा बछड़ा जिसके लिये उत्कण्ठित हो रहा होगा ऐसी (महर्षेः) महर्षि वसिष्ठ की (इयम्) इस (धेनुम्) गाय को (विसृज्यताम्) छोड़ दीजिये।

भावार्थ—राजा ने सिंह से कहा—चूंकि समीप में आये हुये प्राणी ही

तुम्हारी जीविका के साधन हैं। अतः आप मेरे शरीर को खाकर अपनी भूख शान्त कर लीजिये [क्योंकि मैं भी स्वयं ही आपके समीप पहुँच गया हूँ। अतः आप द्वारा भक्षणीय हूँ ही तथा मुनि वसिष्ठ की इस गाय को, कि जिसका छोटा बछड़ा सायंकाल के समय अपनी माँ से मिलने के लिये उत्कण्ठित हो रहा होगा, छोड़ दीजिये। राजा दिलीप के कथन का तात्पर्य यह था कि सिंह राजा को खाकर अपनी भूख मिटाले तथा उसके बदले में गाय को छोड़ दे।

विशेष—इस श्लोक में राजा ने अपने यथार्थ—श्रद्धा-भाव को प्रकट किया है।

व्याकरण—**मदीयेन**—अस्मद् + छ—अस्मद् के स्थान पर 'मद्' तथा 'छ' के स्थान पर 'ईय' आदेश हो जाने पर—मदीय—तृ० वि० ए० व०। **अवसान**—अव + षो + ल्युट् (अन)। **विसृज्यताम्**—वि + सृज् + कर्म० लोट्।

समास—**शरीरवृत्तिम्**—शरीरस्य वृत्ति शरीरवृत्तिः ताम्। **दिनावसानोत्सुकबालवत्सा**—दिनस्य अवसानं दिनावसानं, दिनावसाने उत्सुकः बालः वत्सः यस्याः सा (बहुव्रीहि समास)। **महर्षे**—महांश्चासौ ऋषिः महर्षिः तस्य।

टिप्पणियाँ—**सः त्वम्**—वह (समीप में स्वयं प्राप्त हुये प्राणियों को खाकर जीवन-निर्वाह करने वाले) तुम। **मदीयेन**—मेरे। **देहेन**—शरीर से—अर्थात् मेरे शरीर को खाकर। **शरीरवृत्तिम्**—जीवन निर्वाह। **निर्वर्तयितुम्**—सम्पादन करने के लिये। **प्रसीद**—कृपा करो। आप मेरे को खाकर जीवन-निर्वाह करने की कृपा करें। **दिनावसानोत्सुकबालवत्सा**—दिन की समाप्ति पर अर्थात् सायंकाल के समय जिसका छोटा बछड़ा अपनी माँ से मिलने के लिये उत्सुक हो रहा होगा ऐसी गौ को। यह "धेनुः" का विशेषण है। **महर्षे**—महर्षि वसिष्ठ की। **धेनुम्**—गाय नन्दिनी को। **विसृज्यताम्**—छोड़ दें अथवा छोड़ दीजिये। राजा के कहने का अभिप्राय यह था कि सिंह राजा को खाकर अपना जीवन निर्वाह कर ले तथा गाय को छोड़ दे क्योंकि उस गाय का बछड़ा सायंकाल के समय अपनी माँ से मिलने हेतु उत्सुक हो रहा होगा तथा उसकी प्रतीक्षा में मग्न होगा।

प्रसङ्ग—राजा को उत्तर देने के लिये सिंह उद्यत होता है—

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥४६॥

अन्वयः--अथ भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः गिरिगह्वराणां अन्धकारं दंष्ट्रमयूखैः शकलानि कुर्वन् किञ्चिद् विहस्य अर्थपतिं भूयः बभाषे ।।४६।।

संस्कृत व्याख्या-अथ=तदनन्तरं=राजादिलीपकथनश्रवणानन्तरम्, भूतानां प्राणिनां ईश्वरः स्वामी (शिवः) तस्य पार्श्वे वर्तते इति भूतेश्वरपार्श्ववर्ती= शिवानुचरः, सः=कुम्भोदरनामा सिंहः, गिरिगह्वराणाम्=पर्वतगुहानाम् अन्धकारम्=तिमिरम्, दंष्ट्रामयूखैः=दंष्ट्रानां कठोरदन्तानां मयूखैः किरणैः, शकलानि=खण्डानि, कुर्वन्=विदधत् दूरीकुर्वनितिभावः, किञ्चिद्=स्वल्प, विहस्य=हसित्वा, अर्थपतिम्=राजानं दिलीपम्, भूयः=पुनः, बभाषे=उवाच [गुर्वर्थं स्वशरीरं परित्यक्तुं उद्यतं नृपं दृष्ट्वा सिंहः पुनरपि ईषद्=स्मितं कृत्वा राजानं प्रत्युवाच । कथनकाले तस्य सिंहस्य दन्तेभ्यः महती कान्तिः समुत्पन्ना, यथा पर्वतगुहायाः सकलं तिमिरं निपस्तमिति भावः ।

हिन्दी-व्याख्या--(अथ) राजा दिलीप द्वारा कही गयी बातों को सुनने के पश्चात् (भूतेश्वरपार्श्ववर्ती) भगवान् शिव के समीप रहने वाला (स) [कुम्भोदर नामक] वह अनुचर (गिरिगह्वराणाम्) पर्वतीय-गुफाओं के (अन्धकारम्) अन्धकार को (दंष्ट्रामयूखैः) दाढ़ों से निकलने वाली किरणों (की चमक) से (शकलानि) टुकड़े टुकड़े (कुर्वन्) करता हुआ अर्थात् अंधेरे को दूर करता हुआ (किञ्चिद्) कुछ (विहस्य) हँसकर [मुस्कराकर] (अर्थपतिम्) राजा दिलीप से (भूयः) पुनः (बभाषे) बोला ।

भावार्थ--राजा द्वारा कथित इस बात को कि तुम मुझे खाकर अपनी भूख मिटा लो तथा गाय को छोड़ दो—सुनकर शिव का सेवक वह सिंह पर्वतीय कन्दराओं के अन्धकार को अपनी दाढ़ों की चमक से दूर करता हुआ, मुस्कराता हुआ राजा दिलीप से पुनः बोला ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है ।

व्याकरण—**पार्श्ववर्ती**—पार्श्व + वृत् + णिनि (इन्) गुण पार्श्ववर्ती । **दंष्ट्रा**:—दश + ष्ट्रन् + टाप् । **विहस्य**--वि + हस् + ल्यप् । **कुर्वन्**—कृ + शतृ (अत्)—ऋ को गुण 'अर्', 'अ' को 'उ' होकर कुर्वन् । **बभाषे**—भाष् + लिट ।

समास--**भूतेश्वरपार्श्ववर्ती**—भूतानां ईश्वरः इति भूतेश्वरः, पार्श्वयोः

वर्तितुं शीलमस्येयि पार्श्ववर्ती, भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्ती– भूतेश्वरपार्श्ववर्ती । गिरिगह्वराणाम्— गिरेः गरिगह्वराणि गिह्वर णि तेषाम् । दंष्ट्रामयूखं —दशन्ति आभिः इति दंष्ट्राः तासां, मयूखाः दंष्ट्रामयूखाः तैः। अर्थपतिम्—अर्थानां पतिः अर्थपतिः तम् !

टिप्पणियाँ—अथ—इसके पश्चात् राजा द्वारा कही गयी बातों को सुनने के अनन्तर। भूतेश्वरपार्श्ववर्ती—शिवजी के समीप रहने वाला उसका सेवक [वह सिंह] । सः—वह सिंहः । गिरिगह्वराणाम्—पर्वतीय कन्दराओं (गुफाओं) का । दंष्ट्रामयूखैः—दाँतों की किरणों से । यहाँ दंष्ट्रा से अभिप्राय दाढ़ से है । दाँतों की किरणों से जो श्वेतवर्ण की कान्ति निकल रही थी उस कान्ति से । जब सिंह कुछ-कुछ मुस्कराया तो उसके दाँत खुल गये तथा उन दाँतों से श्वेत-वर्ण की आभा निकली । शकलानि—टुकड़े-टुकड़े, खण्डशः (खण्ड-खण्ड) । कुर्वन् —करता हुआ अर्थात् दाँतों से निकलने वाली आभा (चमक) से पर्वतीय गुफाओं के अन्धकार को दूर करता हुआ । किञ्चिद्—कुछ-कुछ, थोड़ा, ईषद् । विहस्य —हंसकर अर्थात् मुस्कराकर । अर्थपतिम्—राजा दिलीप से । भूयः—पुनः, फिर दोबारा । बभाषे—बोला ।

प्रसङ्ग—सिंह ने राजा से कहा—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

अन्वयः—एकातपत्रं, जगतः प्रभुत्वं, नवं, वयः इदं कान्तं वपुः च (एतत्सर्वम्) बहु, अल्पस्य हेतोः हातुं इच्छन् त्वं मे विचारमूढः प्रतिभासि ॥४७॥

संस्कृत व्याख्या—एकातपत्रम् = अद्वितीयच्छत्रम्, जगतः = संसारस्य, प्रभुत्वम् = स्वामित्वम्, नवम् = नवीनम्, वयः = अवस्थाम् = यौवनमित्यर्थः, इदम् = दृश्यमानम्, कान्तम् = मनोरमम्, वपुः = शरीरम्, च = समुच्चये अर्थे = एतत्सर्वम्, बहु = अत्यधिकम्, अल्पस्य = स्तोकस्य, हेतोः = कारणात्, हातुम् = त्यक्तुम्, इच्छन् = वाञ्छन्, त्वम् = भवान्, मे = मम, विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढः मूर्खः, प्रतिभासि = प्रतीयसे हे राजन् ! एकच्छत्रं संसारस्य आधिपत्यं स्वयौवनं, इदं च सुन्दरं एतत् सर्वं तुच्छागवर्थं परित्यजन् त्वम् मूढः, प्रतीयसे = कर्तव्याकर्तव्यविवेकशून्यः त्वं असि = इति परीज्ञायते—इति भावः ।

हिन्दी-व्याख्या—(एकातपत्रम्) एकच्छत्र (जगत्) संसार के (प्रभुत्वम्) साम्राज्य को,, (नवम्) नवीन (वयः) अवस्था अर्थात् युवावस्था को, (इदम्) इस (कान्तम्) सुन्दर(वपुः) शरीर को (च) इन सब (बहु) बहुतों अनेक। को, (अल्पस्य) गाय नन्दिनी रूप थोड़े से (हेतोः) प्रयोजन की दृष्टि से (हातुम्) त्यागने की (इच्छन्) इच्छा रखते हुये (त्वम्) आप (मे) मुझे (विचारमूढः) क्या करना उचित है ? तथा क्या करना उचित नहीं है ?—इसका विचार करने में मूर्ख (प्रतिभासि) प्रतीत होते हो।

भावार्थ—सिंह राजा से कहता है—हे राजन् ! तुम्हारे पास संसार का एकच्छत्र साम्राज्य है तुम्हारी अभी युवावस्था है, और यह तुम्हारा सुन्दर शरीर है—इन सभी बहुमूल्य पदार्थों को तुम केवल एक गाय जैसी तुच्छ वस्तु के लिये छोड़ देना चाहते हो। इससे प्रतीत होता है कि तुम पूर्णतया विवेकशून्य हो तथा तुमको उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं है। एक तुच्छ पदार्थ की रक्षा के निमित्त इतना बड़ा त्याग करना बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

अलङ्कार—इसमें 'विषम' नामक अलङ्कार है। लक्षण—

"विषमं यद्यनौचित्यादनेकान्वयकल्पनम्"।

व्याकरण—आतपत्रम्—आतप + त्रा + क (अ) आतपत्रम्। प्रभुत्वम्—प्रभु + त्व। कान्तम्—कम् + क्त-धातु की उपधा 'अ' को दीर्घ होकर—कान्तम्। हातुम्—हा + तुमन्। इच्छन्—इच्छ + शतृ। मूढः—मुह् + क्त (त)-'त' के स्थान पर 'ध', 'ह', को 'ढ' पुनः 'ध' को भी 'ढ' होकर—प्रथम ढ का लोप होने पर—'उ' को दीर्घ होकर 'मूढः' बनता है। अल्पस्य—यहाँ "षष्ठी हेतुप्रयोगे" से हेतु के योग में षष्ठी-विभक्ति हुयी है। अल्पस्य-हेतोः।

समास—एकातपत्रम्—आतपात् त्रायते इति, आतपत्रम्—छत्रम्, एकमद्वितीयं आतपत्रं आधिपत्यं यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। प्रभुत्वम्—प्रभोः भावः प्रभुत्वम्। विचारमूढः—विचारे मूढः इति विचारमूढः।

टिप्पणियाँ—एकातपत्रम् = एकच्छत्र। यह 'प्रभुत्वम्' का विशेषण है। प्रभुत्वम्—राज्य, स्वामित्व, प्रभुता। एकातपत्रम् जगतः प्रभुत्वम्—संसार का

एकच्छत्र साम्राज्य । **नवंवयः**—नवीन अवस्था-युवावस्था । **कान्तम्**—सुन्दर; मनोरम, रमणीय । **वपुः**—शरीर–देह । **बहु**—वह सब बहुत सा, बहुत सी वस्तु अधिक । **अल्पस्य**—थोड़े, स्वल्प । **हेतोः**—कारण—एक तुच्छ वस्तु 'गाय' के लिये अथवा एक तुच्छ पदार्थ (गाय) की रक्षा के निमित्त । **हातुम्**—छोड़ने अथवा त्यागने के लिये । हा (त्यागना-अर्थ वाली) धातु के इस शब्द का निर्माण हुआ है । यह जुहोत्यादिगण की धातु है । **इच्छन्**—इच्छा करते हुये । **विचारमूढः**—क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये । इस विषय के विचार से रहित अर्थात् 'किंकर्तव्यविमूढ' अथवा विचारशून्य । **प्रतिभासि**—ज्ञात होते हो, प्रतीत होते हो, मालूम होते हो । सिंह के कहने का निष्कर्ष यह है कि एक ओर तो आपका एकच्छत्र संसार का साम्राज्य, नूतन युवावस्था और मनोहर शरीर तथा दूसरी ओर केवल एक तुच्छ सी गाय । इस तुच्छ गाय की रक्षा के निमित्त तुम अपना साम्राज्य, युवावस्था और अपने शरीर को भी त्याग देना चाहते हो अर्थात् सब कुछ छोड़ देना चाहते हो । क्या यही तुम्हारी बुद्धिमत्ता है ? मैं तो इसे तुम्हारी विवेकशून्यता अथवा मूर्खता ही मानता अथवा समझता हूँ ।

प्रसङ्ग—अतएव सिंह राजा दिलीप को समझाता हुआ कहता है—

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥४८॥

अन्वयः—तव भूतानुकम्पा चेत्, त्वदन्ते इयं एका गौः स्वस्तिमती भवेत् । हे प्रजानाथ ! जीवन् पुनः पिता इव प्रजाः उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि ॥४८॥

संस्कृत-व्याख्या—तव = भवतः दिलीपस्येत्यर्थः, भूतानुकम्पा = प्राणिदया, चेत् = यदि = तदापि तव प्राणोत्सर्गः नोचितः । [यतः] त्वदन्ते = तव नाशे [सति], इयम्—एषा, एका = केवला, गौः = धेनुः नन्दिनी, स्वस्तिमती = कल्याणवती जीवितेत्यर्थः, भवेत् = स्यात् । हे प्रजानाथ ! = हे जनाधिपते ! जीवन् = जीवनं धारयन्, पुनः = भूयः = तु, पिता = जनकः, इव, प्रजाः = जनान् [पितृपक्षे = पुत्रान्], उपप्लवेभ्यः = उत्पातेभ्यः = चौरादिभयेभ्यः इत्यर्थः, शश्वत् = अनारतम्, पासि = रक्षसि । यदि भवान् प्राणिषु, दयालुत्वात् अमुं धेनुं रक्षितुं स्वशरीरदान कर्तुं उद्यतोऽसि तर्हि एतद् उचितं न, यतः त्वन्नाशे तु

धेनोरेव रक्षणं भविष्यति, किन्तु त्वयि जीवति सति सम्पूर्णलोकस्य प्राणिपालनं भविष्यति। अतः स्वशरीररक्षणं ते श्रेष्ठं, न तु धेनुरक्षणमिति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(तवभूतानुकम्पा चेत्) यदि तुम्हारी प्राणियों पर दया है तो भी तुम्हारे द्वारा प्राणदान किया जाना उचित नहीं है क्योंकि (त्वदन्ते) आपका अन्त हो जाने पर (इयम्) यह (एका) केवल (गौः) एक गाय ही (स्वस्तिमती) कल्याणवती अर्थात् जीवित रहेगी। (हे प्रजानाथ) हे प्रजापालक! (जीवन् पुनः) जीवन धारण करते हुए तो (आप) (पिता ईव) पिता के समान (प्रजाः) प्रजाओं की (उपप्लवेभ्यः) उत्पातों अथवा विघ्नों से (शश्वत्) निरन्तर (पासि) रक्षा कर सकते हैं।

भावार्थ—सिंह राजा से कहता है कि यदि आप प्राणियों पर दया करने वाले हैं तथा इसी आधार पर अपना प्राणोत्सर्ग कर इस गौ की रक्षा करना चाहते हैं तो भी आप द्वारा ऐसा किया जाना उचित नहीं है क्योंकि आपके मर जाने के उपरान्त यह केवल एक गाय ही रक्षित हो सकेगी अर्थात् अपने बहु-मूल्य जीवन का विनाश कर आप केवल इस एक गौ की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे किन्तु यदि आप जीवन धारण किये रहे तो आप असंख्य प्राणियों की (अथवा सम्पूर्ण जनता की) रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ हो सकेंगे कि जिस प्रकार पिता अपनी सन्तान की रक्षा किया करता है। प्रजापालक होने के नाते प्रजाओं की रक्षा करना अपका परम कर्त्तव्य हो जाता है। अतः एकमात्र गाय के लिये अपने जीवन को नष्ट न कर असंख्य प्राणियों की रक्षा करने हेतु अपने जीवन का सदुपयोग कीजिये।

अलङ्कार—इस श्लोक में "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है।

व्याकरण—अनुकम्पा—अनु + कम्प् + अङ् + टाप् (आ) अनुकम्पा। स्वस्तिमती—स्वस्ति + मतुप् (मत्) + ङीप् (ई)। जीवन्—जीव् + शतृ (अत्)। उपप्लवेभ्यः—उप + प्लु + अप् (अ)—पञ्चमी बहुवचन में। यहाँ पर "भीत्रार्थानां भयहेतुः" सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुयी है।

समास—भूतानुकम्पा—भूतेषु प्राणिषु अनुकम्पा दया इति। त्वदन्ते—तव अन्तः इति त्वदन्तः (युष्मद् को त्वत् आदेश होकर)—तस्मिन् त्वदन्ते। प्रजानाथ—प्रजानां नाथः इति प्रजानाथ तत्सम्बोधने हे प्रजानाथ!

टिप्पणियाँ—**तव**—तुम्हारी, आपकी—दिलीप की। **भूतानुकम्पा**—जीवों अथवा प्राणियों पर दया। **चेत्**—यदि। **त्वदन्ते**—तुम्हारा अन्त हो जाने पर अर्थात् तुम्हारी मृत्यु के पश्चात्। **इयम्**—यह—सामने विद्यमान। **एका**—केवल एक। **स्वस्तिमती**—कल्याणवती कुशलिनी, सुरक्षित—जीवित "स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः। **जीविन्**—जीवित रहते हुये। **शश्वत्**—निरन्तर, सदा—'पुनः सदार्थयोः शश्वत्—इत्यमरः। **उपप्लवेभ्यः**—उत्पातों से, विघ्नों से—'उपप्लवः सैंहिकेये विप्लवोत्पातयोरपि' इतिमेदिनी। **पासि**—रक्षा करते हो, रक्षा कर सकते हो। □

प्रसङ्ग—सिंह पुनः राजा को समझा रहा है—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयिता घटोघ्नीः ॥४९॥

अन्वय—अथ एकधेनोः अपराधचण्ड त् कृशानुप्रतिमात् गुरोः बिभेषि, अस्य मन्युः घटोघ्नीः कोटिशः गाः स्पर्शयता भवता विनेतुं शक्यः ॥४९॥

संस्कृत-व्याख्या—अथ=पक्षान्तरे, एकधेनोः=एका एव धेनुः गौ यस्य तस्मात्=इयमेवैका गौः यस्यास्तीत्यर्थः, अपराधचण्डात्=आगोऽत्यन्तकोपनात्—अतएव=कृशानुप्रतिमात् कृशानुः अग्निः प्रतिमा उपमा यस्य तस्मात् अग्निसदृशात्, गुरोः=वसिष्ठात्, बिभेषि=भयभीतो भवसि। अस्य=गुरोः वसिष्ठस्य, मन्युः=क्रोधः, घटोघ्नीः, कुम्भसदृशपीनाः, कोटिशः=असंख्याः, गाः=सौरभेयीः, स्पर्शयता=ददता=भवता=त्वया दिलीपेन, विनेतुम्=अपनेतुं-दूरीकर्त्तुं वा, शक्यः=क्षमः=योग्यः [हे राजन्! यदि त्वं नन्दिनी-नाशरूपापराधेनातिक्रुद्धस्य अग्निसदृशगुरोः वसिष्ठात् भयं करोषि तर्हि तस्मै कोटिशः पयस्विनीः गाः दत्वा त्वं क्रोधशान्ति कर्त्तुं समर्थोऽसि, अतः गुरुक्रोध-कारणात्त्वया स्वप्राणोत्सर्गो न कार्यः=इति भावः।]

हिन्दी व्याख्या—(अथ) अथवा हे राजन्! (एकधेनोः) इस एक ही गौ से सम्बन्धित (अपराधचण्डात्) अपराध के कारण अत्यन्त क्रोधित (कृशानु-प्रतिमात्) अग्नि सदृश, प्रचण्ड (गुरोः) गुरु वसिष्ठ से [यदि तुम] (बिभेषि) डरते हो तो (अस्य) इस गुरु का (मनुः) क्रोध (घटोघ्नीः) घड़े के सदृश स्तन वाली (कोटिशः गाः) करोड़ों गायें (स्पर्शयता) उन्हें देकर (भवता) आप

(विनेतुम्) [उनके क्रोध को दूर करने में (क्षमः) समर्थ हो अथवा समर्थ हो सकते हो।

भावार्थ—सिंह राजा से कहता है कि क्या आप अपने गुरु वसिष्ठ से इसलिये डर रहे हैं कि अग्नि के सदृश तेजस्वी हैं तथा दूसरों को भस्म कर देने की क्षमता भी रखते हैं? उनके पास एकमात्र यही गौ है और जो आप द्वारा की गई गौ की उपेक्षा के अपराध के कारण आप पर अति क्रुद्ध भी हो सकते हैं? अतः उन्हीं के भय के कारण आप अपना जीवनोत्सर्ग भी कर देना चाहते हैं? तो इसका समाधान तो किया जा सकता है। आप इस एक गाय के स्थान पर करोड़ों की संख्या में अत्यधिक दुग्ध देने वाली गायें उन्हें देकर उनका क्रोध शान्त कर सकते हैं। अतः इस तुच्छ गाय के लिये जीवन देना उचित नहीं है।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'कृशानुप्रतिमात्' में 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—अपराध = अप + राध् + घञ्। बिभेषि भी + लट् मध्यमपुरुष, एकवचन। इसी क्रिया के योग में 'कृशानुप्रतिमात् गुरोः' में पञ्चमी विभक्ति [भीतार्थानां भयहेतुः' सूत्र से] हुयी है। घटोघ्नीः—घट + ऊधस् = उधस् के 'अस्, को 'अनङ्' (अन्) आदेश होता है, अन् के 'अ' का लोप होकर 'ङीप्' (ई) हो जाने पर 'घटोघ्नी' बनता है—फिर द्वितीया बहुवचन में घटोघ्नीः बनता है। स्पर्शयता-स्पृश् + णिच + शतृ (अत्), तृतीया एकवचन = स्पर्शयता। विनेतुम्—वि + नी + तुमुन् (तुम्) विनेतुम्। शक्यः—शक् + यत्।

समास—एकधेनोः—एका धेनुः यस्य सः तस्मात्। (बहुव्रीहि)। अपराधचण्डात्—अपराधे चण्डः = अपराधचण्डः तस्मात्। कृशानुप्रतिमात्—कृशानुः [अग्नि] प्रतिमा उपमा] यस्य सः कृशानुप्रतिमः तस्मात्। घटोघ्नीः—घटाः इव ऊधांसि यासां ताः घटोघ्न्यः ताः घटोघ्नीः।

टिप्पणियाँ—अथ—पक्षान्तर में—अथवा। एकधेनोः—एक ही है गाय जिसके—अथवा एक ही गाय वाले। यह 'गुरोः' का विशेषण है। अपराधचण्डात्—अपराध होने पर अत्यधिक क्रोध करने वाला। अथवा अपराध हो जाने के कारण अत्यधिक क्रोधित हो जाने वाले—'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः—

इत्यमरः । **कृशानुप्रतिमात्**—अग्नि के सदृश । जिस भाँति अग्नि किसी भी वस्तु को भस्म कर देने में समर्थ होती है उसी प्रकार किसी को भी अपने तेज से भस्म कर देने में समर्थ । यह भी 'गुरोः' का विशेषण है । **बिभेषि**—डरते हो, भयभीत हो जाते हो । **अस्य**—इस (वसिष्ठ) का—इनका । **मन्युः**—क्रोध—"मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि" । इत्यमरः । **कोटिशः**—करोड़ों—असंख्यों । **घटोघ्नीः**—घड़े के समान बड़े-बड़े स्तनों वाली अर्थात् अत्यधिक दुग्ध देने वाली । **स्पर्शयता**—ददता, देते हुए । **विनेतुम्**—[दूरीकर्तुम् दूर कर सकने में—दूर करने में । **शक्यः**—समर्थ हो । क्रोध दूर कर सकते हो अर्थात् अत्यधिक दूध देने वाली करोड़ों गायों को अपने गुरु को देकर आप उनके क्रोध को शान्त कर सकते हैं ।] □

प्रसङ्ग—इसी प्रसङ्ग में सिंह पुनः राजा से कहता है—

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

अन्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारं ऊर्जस्वलं आत्मदेहं रक्ष । हि ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नं ऐन्द्रं पदं आहुः ॥ ५०॥

संस्कृत व्याख्या—तत् = तस्मात् कारणात्, कल्याणपरम्पराणाम् = कल्याणानां मंगलपूर्णभोगानां परम्पराः सन्तानानि तासाम्, भोक्तारम् = अनुभवितारम् ऊर्जस्वलम्, बलवन्तम्, आत्मदेहम् = स्वशरीरम्, रक्ष = पालय, हि = यत्, ऋद्धम् = सुसमृद्धम्, राज्यम् = राजकीयप्रभुत्वम्, महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् = पृथ्वीतलसम्बन्धमात्रेण, विसदृशम्, ऐन्द्रम् = इन्द्रसम्बन्धि, पदम् = स्थानम्, आहुः = कथयन्ति–विद्वान्सः इति शेषः । हे राजन् ! त्वमुत्तमोत्तरसुखानां भोक्तारं स्वशरीरं रक्ष । यतः विद्वान्सः कथयन्ति यत् सुसमृद्धं राज्यं स्वर्ग—लोकान्न भिद्यते । तव राज्यं स्वर्गसदृशमेवास्तीति भावः ।]

हिन्दी व्याख्या—(तत्) इसी कारण [अतः आप] (कल्याणपरम्पराणाम्) मंगलमय भोगों की परम्पराओं के (भोक्तारम्) भोग करने वाले अर्थात् एक के पश्चात् दूसरा इस भाँति अनेक मंगलमय भोग का अनुभव करने वाले, (ऊर्जस्वलम्) बलवान (आत्मदेहम्) अपने शरीर की (रक्ष) रक्षा कीजिये । (हि) क्योंकि (महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्) पृथ्वीतल के स्पर्शमात्र से भिन्न (ऋद्धम्)

समृद्धशाली (ऐन्द्रम्) इन्द्र-सम्बन्धी (पदम्) स्थान अथवा राज्य (आहुः) [विद्वान् लोग] कहते हैं।

भावार्थ—अन्त में अपने कथन का उपसंहार करते हुये सिंह राजा दिलीप से कहता है—हे राजन्! इन उपर्युक्त कारणों से आप अपने अनेक मंगलमय भोगों का अनुभव करने वाले तथा बज्रपूर्ण शरीर की रक्षा कीजिये। क्योंकि विद्वान् पुरुष आप जैसे राजा के सुसमृद्ध राज्य को इन्द्र का ही पद अथवा राज्य कहते अथवा बतलाते हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि इन्द्र का पद पृथ्वीतल का स्पर्श नहीं करता है तथा आपका राज्य पृथ्वी पर है। यहाँ सिंह के कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि यदि गाय की रक्षा न कर सकने के कारण राजा दिलीप यह समझते हों कि उनको स्वर्ग की प्राप्ति न हो सकेगी तो उनका राज्य साक्षात् स्वर्ग सदृश ही है। अतः स्वर्ग सम्बन्धी उनकी चिन्ता भी निर्मूल ही है।

अलङ्कार—इस श्लोक में "अर्थान्तरन्यास" अलङ्कार है।

व्याकरण—भोक्तारम्—भुज + तृच—द्वितीय विभक्ति के एकवचन का रूप। ऊर्जस्वलम् —ऊर्जस् + वलच्। स्पर्शनमात्रम्—स्पृश् + ल्युट् (अन्), ऋ को अर् गुण-स्पर्शन + मात्रच-स्पर्शनमात्रम्। ऋद्धम्— ऋद्ध + क्त। ऐन्द्रम्—इन्द्र + अण् तस्येदम् से 'अण'] आदिवृद्धि होकर-ऐन्द्रम्।

समास—कल्याणपरम्पराणाम्—कल्याणानां परम्परा: कल्याणपरम्परा: तासाम्। महीतलस्पर्शमात्रभिन्नम्—मह्याः तलं महीतलं तस्य स्पर्शनं—महीतल-स्पर्शनम्। (षष्ठी तत्पुरुष) तदेव प्रमाणमस्य असौ महीतलस्पर्शमात्रम् तेन भिन्नम् महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्। ऊर्जस्वलम्—ऊर्जः अस्यास्तीति ऊर्जस्वलम्। आत्म-देहम्—आत्मनः देहः आत्मदेह। तम्। ऐन्द्रम्—इन्द्रस्य, इदम्—ऐन्द्रम्।

टिप्पणियाँ—तत्—इस कारण, इसलिये, अतः। कल्याणपरम्पराणाम्—मंगलमय भोगों की परम्पराओं को। नाना प्रकार के अनेक कल्याणों का। भोक्तारम्—भोगने वाला, अनुभव करने वाला। ऊर्जस्वलम्—बलवान्; बल से युक्त। "ऊर्जस्तु कार्तिकोत्साहबलेषु प्राणनेऽपि च" इति मेदिनी। आत्मदेहम्—

पने शरीर को। **ऋद्धम्**—सुसमृद्ध, समृद्धि से परिपूर्ण। यह 'राज्यम्' का शेषण है। **महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्**—पृथ्वीतल के सम्बन्ध मात्र में पृथक् र्थात् राजा दिलीप के समृद्धिशाली राज्य और इन्द्र के पद (राज्य) में केवल ही अन्तर है कि इन्द्र का पद (स्थान अथवा राज्य) 'स्वर्ग' में है तथा राजा राज्य इस पृथ्वीतल पर है। पृथ्वी के स्पर्श करने मात्र का ही दोनों में न्तर है। एक पृथ्वी का स्पर्श करता है तथा दूसरा उससे परे है। **ऐन्द्रम्**—न्द्र सम्बन्धी। **पदम्**—स्थान अथवा राज्य अथवा पद। **आहुः**—कहते हैं—द्वान् लोग ऐसा कहा करते हैं। □

प्रसङ्ग—सिंह के कथन की प्रतिध्वनि उसी गुफा में हुयी। अतः ऐसा प्रतीत रहा था कि मानों गुफा ने भी सिंह के ही कथनों का अनुमोदन किया हो—

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

अन्वयः—मृगेन्द्र एतावत् उक्त्वा विरते [सति] गुहागतेन अस्य प्रतिस्वनेन लोच्चयः अपि प्रीत्या तं एव अर्थं अभाषत इव ॥५१॥

संस्कृत-व्याख्या—मृगेन्द्र = सिंह, एतावत् = पूर्वोक्तम्, उक्त्वा = कथयित्वा, रते = निवृत्ते, सति, गुहागतेन = गह्वरप्राप्तेन, अस्य = सिंहस्य, प्रतिस्वनेन = तिध्वनिना, शिलोच्चयः = पर्वतः हिमालयः अपि, प्रीत्या—प्रेम्णा, तम्-एह = हक्तमेव, अर्थम् = अभिधेयम्, क्षितिपालम् = राजानं दिलीपम्, उच्चैः = रस्वरेण, अभाषत् = अकथयत्, इव [एतावदुक्त्वा सिंहे तूष्णीम् जाते सति, यैव सिंहस्य वाक्यस्य प्रतिध्वनिः गुहामध्ये बभूव। तदा इदमेव ज्ञायते स्म हिमाचलः अपि तारस्वरेण तत्प्रतिध्वनिमिषेण सिंहस्यैव कथनं समर्थयतिस्म ति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(मृगेन्द्रे) सिंह के (एतावत्) **इतना इस प्रकार (उक्त्वा)** हकर (विरते सति) **चुप हो जाने पर** (गुहागतेन) **गुफा में व्याप्त** (अस्य) **इसको** सिंह के कथन की] (प्रतिस्वनेन) **प्रतिध्वनि से** (शिलोच्चयः अपि) **पर्वत ने** (प्रीत्या) **प्रेम के साथ** (तम् एव) **उस ही** (अर्थम्) **बात को** [कथन को] तिपालम्) **राजा से** (उच्चैः) **उच्चस्वर में** (अभाषत इव) **मानो कहा।**

भावार्थ—सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर उसकी प्रतिध्वनि जो उस गुफा में व्याप्त हो गई थी, इस प्रतिध्वनि के माध्यम से मानों पर्वत भी उसी बात को बड़े जोर के साथ प्रेमपूर्वक राजा से कह रहा था कि एक तुच्छ गाय के निमित्त तुमको अपने जीवन का त्याग नहीं करना चाहिये। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों सिंह के उस कथन की प्रतिध्वनि के माध्यम से पर्वत भी उसी के कथन का समर्थन कर रहा हो।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

व्याकरण—**एतावत्**—एतद् + मतुप् (मत्) शब्द के द् को आ—एतावत्। **उक्त्वा**—वच् + क्त्वा—धातु के 'व' को सम्प्रसारण 'उ' तथा 'च्' के स्थान पर 'क्' होकर उक्त्वा। **विरते**—वि + रम् + क्त (त) धातु के म् का लोप—सप्तमी एकवचन में 'विरते'। **प्रतिस्वनेन**—प्रति + स्वन् + अप् (अ)—तृतीया विभक्ति के एकवचन में। **क्षितिपालम्**—क्षिति + पाल + अण (अ) क्षितिपालः द्वितीया-एकवचन में क्षितिपालम्। **प्रीत्या**—प्री + क्तिन् (ति) तृतीया विभक्ति एकवचन में प्रीत्या।

समास—**मृगेन्द्रे**—मृगाणामिन्द्रः तस्मिन्। **एतावत्**—एतत्परिमाणस्येति एतावत्। **गुहागतेन**—गुहागत इति गुहागतः तेन (द्वितीया तत्पुरुष)। **शिलोच्चयः**—शिलानामुच्चयः इति (षष्ठी तत्पुरुष)। **क्षितिपालम्**—क्षिति पालयति इति क्षितिपालः तम्।

टिप्पणियाँ—**एतावत्**—इतना, पूर्वोक्त प्रकार से। **उक्त्वः**—कहकर, कहने पर। **मृगेन्द्रे**—सिंह के। **विरते**—चुप होने जाने पर, तूष्णीम्भूते। **गुहागतेन**—गुफा में गये हुये। गुफा के अन्दर व्याप्त [फैले हुये] यह 'प्रतिस्वनेन' का विशेषण है। **प्रतिध्वनेन**—प्रतिध्वनि से, गूंज से, जो गुफा के अन्दर हुयी **शिलोच्चयः**—पर्वत = हिमालय पर्वत। **प्रीत्या**—प्रेमपूर्वक, प्रेम के साथ। **उच्चैः**—उच्च स्वर से, जोर से—यह अव्यय है। **क्षितिपालम्**—राजा से, दिलीप से **तमेव अर्थम्**—उसी बात को। **अभाषत इव**—मानो कहा—उसी बात को पर्वत ने भी दोहराया। सिंह के कथन का शब्द उस गुफा में गूंज रहा था। उस शब्द को सुनने से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों सिंह द्वारा कही गई हुई बातों को पर्वत भी दोहरा रहा हो अथवा अनुमोदन कर रहा हो।

प्रसङ्ग—सिंह के कथन का श्रवण कर राजा दिलीप उसे पुनः उत्तर देने के निमित्त प्रस्तुत हुये—

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

अन्वय—देवानुचरस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवः तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः 'सन्' पुनः अपि उवाच ॥''२॥

संस्कृत-व्याख्या—देवानुचरस्य = महादेवसेवकस्य, सिंहस्य, वाचम् = पूर्वोक्तां वाणीम्, निशम्य = श्रुत्वा, मनुष्यदेवः = राजा दिलीपः, तदध्यासितकातराक्ष्या = तेन सिंहेन अध्यासितं आक्रमणं तेन कातरे भीते अक्षिणी नेत्रे यस्याः सा तया, धेन्वा = धेन्वा नन्दिन्या, निरीक्ष्यमाणः = दृश्यमानः, सुतराम् = नितराम्, दयालुः = कारुणिकः, सन्, पुनः = भूयः, अपि उवाच = जगाद [तस्य सिंहस्य आक्रमणेन सा नन्दिनी अत्यधिकं भयभीता बभूव । अतएव सा राजानं कातरदृष्ट्या अपश्यत् । एवं नन्दिन्या अवलोक्यमानः राजा नितरां दयामापन्नः सन् तं सिंह पुनरपि अवोचत् इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(देवानुचरस्य) शिव के सेवक उस सिंह के (वाचम्) वचनों [कथनों] को (निशम्य) सुनकर (मनुष्यदेवः) मनुजेश्वर राजा दिलीप (तदध्यासितकातराक्ष्या) सिंह के आक्रमण से भयपूर्ण नेत्रों वाली (धेन्वा) गो नन्दिनी के द्वारा (निरीक्ष्यमाणः) देखा जाता हुआ [अतएव] (सुतराम्) अत्यधिक (दवालुः सन्) दयार्द्र होता हुआ पुनः (अपि) फिर भी—दुबारा [उस सिंह से] (उवाच) बोला ।

भावार्थ—शिव के सेवक सिंह की बात को सुनकर राजा ने नन्दिनी नामक गाय की दयनीय दशा को देखकर उस सिंह से पुनः कहा । उस समय गाय की दशा बड़ी शोचनीय थी—सिंह के आक्रमण के कारण वह अत्यन्त भयभीत हो गई थी, अतएव वह राजा की ओर अत्यन्त आशा भरी दृष्टि से देख रही थी । राजा तो स्वभावतः दयालु थे ही—गाय की उपर्युक्त अवस्था को देखकर उनका हृदय और भी अधिक दया से परिपूर्ण हो गया था । अतः वह अपना जीवन देकर गाय की रक्षा किये जाने को ही अधिक उपयुक्त समझ रहा था ।

अलङ्कार—इसमें 'परिकर' नामक अलङ्कार है। लक्षण—

"अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे"।

व्याकरण—वाचम्—वच + क्विप्—धातु की उपधा को दीर्घ—वाक्—द्वितीया विभक्ति, एकवचन वाचम्। **निशम्य**—नि—शम्—ल्यप्। **अध्यासित**—अधि + आस् + क्त (त) इडागम। **कातराक्षि**—कातर + अक्षि + षच् (अ) ["बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" से षच्] अक्षि के इकार का लोप पुनः स्त्रीत्व विवक्षा में "षिद्गौरादिभ्यश्च" सूत्र से ङीप् (ई)—तृतीया विभक्ति के एकवचन में कातराक्ष्या। **निरीक्ष्यमाणः**—निर् + ईक्ष् + यक् + शानच् 'मुक' (म्) का आगम होकर—निरीक्ष्यमाणः। **सुतराम्**—सु + तरप् 'द्विवचनविभज्य' से 'तरप्' 'किमेत्तिङव्यय' से 'आम्'—"तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" से अव्यय संज्ञा होकर 'सुतराम्' बनता है।

समास—देवानुचरस्य—देवस्य [शिवस्य] अनुचरः—देवानुचरः तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। **मनुष्यदेवः**—मनुष्याणां देवः मनुष्यदेवः। **तदध्यासितकातराक्ष्या** =तेन अध्यासितम् इति तदध्यासितम् तेन कातरे अक्षिणी यस्याः सा तदध्यासितकातराक्षी (बहुव्रीहि) तया। **निरीक्ष्यमाणः**—निरीक्ष्यते इति निरीक्ष्यमाणः।

टिप्पणियाँ—देवानुचरस्य—शिवजी के सेवक (सिंह की)। **वाचम्**—वाणी को, कथन को। **निशम्य**—सुनकर, श्रवणकार—श्रुत्वा। **मनुष्यदेवः**= मनुजेश्वर राजा दिलीप ने। **तदध्यासितकातराक्ष्या**=उस सिंह के आक्रमण से [भयभीत होने के कारण] कातर नेत्रों वाली उस गाय नन्दिनी से] द्वारा यह 'धेन्वा" का विशेषण है। **धेन्वा**=गाय, नन्दिनी, के द्वारा। **निरीक्ष्यमाणः**= देखा जाता हुआ= अर्थात् गाय अपनी रक्षा के निमित्त, सिंह से भयभीत होने के कारण, राजा की ओर बड़ी आशाभरी दृष्टि से देख रही थी। यह 'मनुष्यदेवः (राजा)" का विशेषण है। **सुतराम**=अत्यधिक रूप से=पहले की अपेक्षा और भी अधिक। यह 'अव्यय' है। **दयालु**=दयाभाव से परिपूर्ण, **दयार्द्र**= जिसके अन्तःकरण में दया का भाव पहले की अपेक्षा और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गया था। **पुनः अपि**=फिर भी=दुबारा। एक बार तो वह सिंह से बात कर ही चुका था। सिंह ने उसकी बातों का उत्तर दे दिया। अतः उसका

उत्तर देना उसके लिये आवश्यक था। अतः वह सिंह की बातों का उत्तर देने के लिये पुनः उद्यत हुआ। **उवाच**— बोला, कहा —

प्रसङ्ग—राजा ने सिंह से कहा—

क्षतात् किल त्रयात इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं यद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥५३॥

अन्वयः—उदग्रः क्षत्रस्य शब्दः, क्षतात् त्रायते इति [व्युत्पत्त्या, भुवनेषु रूढः किल। तद्विपरीवृत्तेः राज्येन किम् ? वा उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः किम् ? ॥५ ॥

संस्कृत-व्याख्या—उदग्रः = उच्छितः, क्षत्रस्य = क्षत्रियवर्णस्य, शब्दः = वाचकः, क्षतात् = नाशात्, त्रायते = रक्षति, इति = इत्यर्थे, भुवनेषु = लोकेषु, रूढः = प्रसिद्धः अस्तिः, किल = निश्चये-नेत्यर्थः। तद्विपरीतवृत्तेः = तस्मात् क्षत्र शब्दात् विपरीता विरुद्धा वृत्तिः आचरणं यस्य तस्य [जनस्य], राज्येन = राजभावेन,। किम् = किम्प्रयोजनम् ?–न किमपि साध्यमित्यर्थः-तद्राज्यं व्यर्थमेवेति भावः। वा = अथवा, उपक्रोशमलीमसैः = उपक्रोशेन लोकनिन्दया मलीमसाः कलुषिताः तैः उपक्रोशमलीमसैः-निन्दाकलुषितैः, प्राणैः = असुभिः, किम् = किम्प्रयोजनम् ? तज्जीवनमपि व्यर्थमेवेत्यर्थः [हे मृगेन्द्र ! क्षत्रियवर्णस्य वाचकः 'क्षत्र' इति शब्दः = क्षतात् सर्वनाशात् रक्षति इत्यर्थे लोकेषु प्रसिद्धः अस्ति।] यदि एतादृशः क्षत्रियः नृपः 'क्षत्र' शब्दस्य अर्थात् विरुद्धामाचरति (नाशान् जनं न त्रायते = इत्यर्थः) तर्हि तस्य राज्ञः राज्येन् किम् ?—न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। अथवा विरुद्धाचरणात् लोकनिन्दया कलुषितैः तस्य प्राणैरपि किम् ? —न किमपीत्यर्थः। तस्य जीवनं राज्यादिकं च धिक्कारभाजनतया व्यर्थमेव भवति, तस्य तु मरणमेव श्रेयः—इति भावः।।

हिन्दी-व्याख्या—(उदग्रः) उन्नत (क्षत्रस्य) क्षत्रियवर्ण का (शब्दः) वाचक जो 'क्षत्र' शब्द है वह (क्षतात्) नाश से (त्रायते) बचाता है [अर्थात् जो नाश होने से बचाता है अथवा रक्षा करता है वही 'क्षत्रिय' कहलाता है] (इति) इस अर्थ में (भुवनेषु) सभी लोकों में (किल) निश्चित रूप से (रूढः) प्रसिद्ध हैं। (तद्विपरीतवृत्तेः) उपर्युक्त अर्थ से विपरीत आचरण करने वाले [छत्रिय के] (राज्येन) राज्य से (किम्) क्या ? अर्थात् उसका राज्य व्यर्थ है। (वा) अथवा

(उपक्रोशमलीमसैः) लोकनिन्दा से कलुषित [उसके] (प्राणैः) प्राणों से ही (किम्) क्या अर्थात् उसके द्वारा उसके प्राणों का धारण किया भी व्यर्थ ही है।

भावार्थ—राजा सिंह को उत्तर देते हुये कहता है कि क्षत्रिय वर्ण का वाचक जो 'क्षत्र' शब्द है वह "विनाश से बचाने वाले" अर्थ में लोकों में प्रसिद्ध है अर्थात् जो दूसरों को [अथवा प्रजा को—राजा के पक्ष में] विनाश होने से बचाता है वही 'क्षत्रिय' कहलाता है। यदि कोई क्षत्रिय होकर भी दूसरों की रक्षा नहीं करता है अर्थात् 'क्षत्र' शब्द के अर्थ के विपरीत आचरण करता है तो इस प्रकार के राजा का राज्य निरर्थक ही है। अतः लोक-निन्दा से कलुषित उसके प्राणों का धारण किये रहना भी निरर्थक ही है। अतः मुझ जैसे कर्तव्य-हीन राजा के राज्य से अथवा प्राणों से क्या लाभ—कि जो अपनी आँखों के समक्ष प्राणियों को नष्ट होते हुए देखता रहे और उनकी रक्षा भी न कर सके। अतः मेरा मर जाना ही श्रेयस्कर है। इसलिये आप मेरे शरीर से अपने क्षुधा शान्त कर लीजिये और इस गाय को छोड़ दीजिये।

अलङ्कार—इस श्लोक में "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है।

व्याकरण—क्षत्र—क्षण् + क्विप्, 'ण' का लोप, तुक् (त) का आगम—क्षत् + त्रा + क—क्षत्रः। **क्षतात्**—क्षण् + क्त (त)—'ण' का लोप—क्षत् पञ्चमी विभक्ति के एकवचन में क्षतात्। **रूढः**—रुह + क्त (त) 'त' को 'ध', 'ह' को 'ढ' फिर 'ध' को भी 'ढ', प्रथम 'ढ' का लोप—दीर्घ होकर रूढः बनता है। **राज्यम्**—राजन् + ष्यञ्—राजन् के 'ट' (अन्) का लोप—राज्यम्। **विपरीत**—वि + परि + इ + क्त (त)। **वृत्ति**—वृत् + क्तिन्। **उपक्रोशः**—उप + क्रुश् + घञ्—गुण होने के पश्चात् 'उपक्रोशः'।

समास—तद्विपरीतवृत्तेः—तस्य क्षत्र शब्दस्य विपरीता प्रतिकूला वृत्तिः आचरणं यस्य सः तद्विपरीतवृत्तिः तस्य (बहुव्रीहि समास)। **उपक्रोशमलीमसैः**—उपक्रोशेन मलीमसाः उपक्रोशमलीमसाः तैः।

टिप्पणियाँ—उदग्रः—उन्नत, प्रसिद्ध। **क्षत्रस्य शब्दः**—क्षत्र शब्द क्षत्रिय वर्ण का वाचक शब्द। 'क्षत्र' शब्द का अर्थ है विपत्ति से बचाने वाला अथवा आपत्ति या विनाश के समय रक्षा करने वाला। **क्षतात्**—नाश से, विनाश अथवा विपत्ति से। **त्रायते**—बचाता है। **रूढः**—प्रसिद्ध है। **भुवनेषु रूढः**—

लोकों में प्रसिद्ध है । **तद्विपरीतवृत्तेः**--उस 'क्षत्र' शब्द के उक्त अर्थ के विरुद्ध अर्थ वाले--उक्त अर्थ के विपरीत आचरण अथवा व्यवहार करने वाले-अर्थात् जो आपत्तियों अथवा विनाश से प्रजा की रक्षा न कर सके (उसके) । **राज्येन**—राज्य से । **किम्**--क्या, क्या प्रयोजन ? अर्थात् ऐसे राजा का राज्य व्यर्थ है । **उपक्रोशमलीमसैः**--निन्दा के कारण कलुषित-निन्दनीय । जनता द्वारा जिस राजा की निन्दा की जाय ऐसे राजा का जीना (प्राणों को धारण करना) भी निरर्थक ही है । **प्राणैः किम्**--प्राणों से क्या ? अर्थात् उसका जीवन धारण करना भी निरर्थक ही है । राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तविक क्षत्रिय तो वही है कि जो विपत्ति में पड़े हुये अथवा विनाशोन्मुख लोगों की रक्षा स्वयं करे । मैं इस समय आपत्ति में पड़ी हुयी गाय की रक्षा करने में, असमर्थ हूँ । अतः मेरा जीवन धारण करना पूर्णतया व्यर्थ ही है । मेरे द्वारा जीवनोत्सर्ग किये जाने से कम से कम इस एक प्राणी (गाय) की तो रक्षा हो ही जायेगी । अतः मैं अपने जीवन को इसी से धन्य मानूंगा । इसी प्रकार के भाव का अभिव्यक्तिकरण 'किरातार्जुनीय' के तृतीय सर्ग के ४८ वें श्लोक में भी किया गया है---

"त क्षत्रियः त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः" । □

प्रसङ्ग—सिंह ने राजा से कहा था कि 'तुम अपने गुरु वसिष्ठ को अन्य अनेकों गायें देकर उनके क्रोध को शान्त कर सकते हो', इस बात का उत्तर देता हुआ राजा सिंह से कह रहा है--

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चयान्पयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥५४॥

अन्वयः--अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् महर्षेः अनुनयः कथं नु शक्यः ? इमां सुरभेः अनूनां अवेहि अस्यां त्वया तु रुद्रौजसा प्रहृतम् ॥५४॥

संस्कृत-व्याख्या—अन्यपयस्विनीनां = अन्यासा इतरासां पयस्विनीनां प्रशस्तक्षीराणां गवाम्, विश्राणनात् = दानात्, महर्षेः = मुनिवसिष्ठस्य, अनुनयः = क्रोधापनयः अथवा सांत्वनम्, कथं नु = केन प्रकारेण नु, शक्यः = कर्तुं योग्यः = न कथमपि = इत्यर्थः, इमाम = पुरोवर्त्तमानां गाम्, सुरभेः कामधेनोः, अनुनाम् = न ऊना अनूना ताम्; अनूनाम् = अन्यूनाम्, अवेहि = जानीहि ।

अस्याम्=एतस्यां गवि, त्वया=भवता=सिंहेन, तु, रुद्रौजसा=शंकरतेजसा, एव, प्रहृतम्=प्रहारः कृतः, न तु स्वकीयेन बलेन [राजा सिंह कथयति=महर्षि वसिष्ठस्य क्रोधापनयः अन्यासां क्षीरवतीनां गवां दानात् कथमपि भवितुं न शक्यः। यतो हि त्वया आक्रान्ता इयं गौः सामान्या गौः नास्ति, अपितु इयं तु कामधेनुसदृशो एवास्ति। त्वया अस्यां यदाक्रमणं कृतं तत्तु शिवतेजसा एव त्वया कृतं न तु स्वकीयेन सामर्थ्येनेति भावः।

संस्कृत-व्याख्या--(अन्यपयस्विनीनाम्) दुग्धवती अन्य गायों के (विश्राणनात्) देने से (महर्षेः) मुनिवसिष्ठ का (अनुनयः)) क्रोध शान्त करना (कथं नु) किस प्रकार से (शक्यः) सम्भव हो सकता है। (इमाम्) इस नन्दिनी नामक गाय को आप] (सुरभेः) कामधेनु से (अनूनाम्) अन्यून अर्थात् जो कम न हो ऐसा अथवा समान (अवेहि) समझिये। (अस्याम्) इस गाय पर (त्वया तु) आप द्वारा तो (रुद्रौजसा) शिवजी के प्रभाव अथवा तेज से ही (प्रहृतम्) प्रहार किया गया है [अपने बल के आधार पर नहीं]।

भावार्थ--राजा सिंह से कह रहा है--कि अन्य दुग्धवती साधारण गायों के देने से मुनि वसिष्ठ का क्रोध किसी भी दशा में शान्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह गाय साधारण गाय नहीं है। यह गाय तो साक्षात् कामधेनु के सदृश अथवा कामधेनु ही है। इसे आप कामधेनु से कम न समझिये। देवताओं की गाय कामधेनु के सदृश इसे जानते हुये भी आपने जो इस पर आक्रमण किया है--उसमें आपके अपने बल का कोई प्रभाव नहीं है अपितु यह भगवान् शिव के प्रताप के बल पर ही आपने किया है।

अलङ्कार--इस श्लोक में 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

व्याकरण--पयस्विनाम्--पयस्+विनि (विन्)+ङीप् (ई)=पयस्विनी षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में--पयस्विनाम्। विश्राणनात्--वि+श्रण् [चुरादिगणी] णिच् ल्युट् (अन्) विश्राणनम्=पञ्चमी, एकवचन में--विश्राणना। अनुनयः--अनु+नी+अच् (अ) गुण, अयादेश होकर 'अनुनयः'। सुरभेः=जहाँ दो वस्तुओं का मुकाबला करके किसी की न्यूनता अथवा आधिक्य का वर्णन किया जाता है, वहाँ 'पञ्चमी विभक्तेः' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुआ करती है। इसी नियम के अनुसार 'सुरभेः' में पञ्चमी विभक्ति हुयी है। अवेहि

अव + इण् + लोट् (म० पु०)। अस्याम्—में "सप्तम्यधिकरणे" सूत्र से सप्तमी विभक्ति हुयी है। प्रहृतम्—प्र + हृ + क्त (त)। 'प्रहृत' में 'नपुंसके भावेक्तः से 'क्त' हुआ है। 'क्त' यहाँ भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ यह नपुंसकलिङ्ग भाववाचक संज्ञा के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

समास—अन्यपयस्विनीनाम्—प्रशस्तं पय आसामिति पयस्विन्यः, अन्याश्च ताः पयस्विन्य अन्यपयस्विन्यः तासाम्। **महर्षेः**—महान् च असौ ऋषिः महर्षिः तस्य। **अनूनाम्**—न ऊना-अनूना ताम्। **रुद्रौजसा**—रुद्रस्य ओजः इति रुद्रौजः तेन।

टिप्पणियाँ—अन्यपयस्विनीनाम्—दूसरी—अधिक दुग्ध देने वाली गायों के। **विश्राणनात्**—[दानात्] देने से—दिये जाने से। **अनुनयः**—क्रोध की शान्ति, क्रोध को दूर किया जाना। **कथं शक्यः**—कैसे हो सकती है, कैसे होना सम्भव है? महर्षि के क्रोध की शान्ति साधारण गायों के देने से कैसे की जा सकती है? **इमाम्**—इस गाय [नन्दिनी] को। **सुरभेः**—कामधेनु से, कामधेनु की अपेक्षा। **अनूनाम्**—न्यून अर्थात् कम नहीं समझिये। इसे आप कामधेनु से कम मत समझिये—अर्थात् इस गाय को आप कामधेनु सदृश ही जानिये। **अवेहि**—जनो-जानिये, समझिये अथवा समझो। **अस्याम्**—इसमें। गाय में इस गाय के ऊपर आप द्वारा किया गया आक्रमण। **त्वया**—तुम्हारे, सिंह के द्वारा। **प्रहृतम्**—किया गया आक्रमण अथवा प्रहार। **रुद्रौजसा**—भगवान् शिव के तेज अथवा प्रताप से। सिंह ने राजा से कहा था कि आप करोड़ों अन्य दूध देने वाली गायों को दे करके अपने गुरु वसिष्ठ के क्रोध को शान्त कर सकते हैं। इस बात के उत्तर में राजा ने कहा कि यह साधारण गाय नहीं है। यह कामधेनु से किसी भी दशा में कम नही है। तब आप ही सोचें कि क्या इस गाय की समानता में कोई अन्य गाय आ सकती है? अर्थात् नहीं आ सकती है। फिर साधारण गायों के देने से गुरु वसिष्ठ के क्रोध की शान्ति कैसे सम्भव है? कामधेनु सदृश होने के ही कारण आप अपने पराक्रम से इस पर आक्रमण भी नहीं कर सकते थे। यह आक्रमण जो आप द्वारा इस पर किया है उसमें भगवान् शंकर का पराक्रम ही कारण है—आपका अपना बल अथवा पराक्रम नहीं। ❑

प्रसङ्ग—अतः राजा दिलीप अपने पूर्वकथिक प्रस्ताव [अर्थात् तुम मुझे खाकर अपनी भूख शान्त कर लो तथा इस गाय को छोड़ दो ।] को ही पुनः दोहराते हैं—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणास्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥५५॥

अन्वयः—सा इयं मया स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण भवत्तः मोचयितुं न्याय्या । एवं तव पारणा विहता न स्याद्, मुनेः क्रियार्थः च अलुप्तः भवेत् ॥५५॥

संस्कृत व्याख्या—सा = प्रस्तुतवर्णना, इयम् = पुरोवर्त्तमाना धेनुः मया = दिलीपेन, स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण = स्वस्य देहः निजशरीर तस्य अर्पणं दानं तदेव निष्क्रियः मूल्यं तेन = स्वशरीरार्पणरूपमूल्येनेतिभावः, भवत्तः = त्वत्तः, मोचयितुम् = हापयितुम्, न्याय्या = न्याययुक्ता = न्यायोचिता । एवम् = इत्थम्, तव = भवतः, पारणा = व्रतान्तभोजनम्, विहता = नष्टा, न स्यात् = न भवेत्, मुनेः = वसिष्ठस्य, क्रियार्थः च = होमादिरूपकृत्यप्रयोजनं चापि, अलुप्तः = अविहतः अनष्टः, भवेत् = स्यात् (राजा सिंह), कथयति = यदहं स्वशरीरं तुभ्यं समर्पयामि । एवमियं गौः भवत्तः मोचयितुं योग्या भविष्यति । अनेन प्रकारेण भवतः व्रतान्तभोजनमपि नष्टं न भविष्यति, महर्षिवसिष्ठस्यापि अनया गवा सम्पाद्यमानं होमादिकं प्रयोजनमपि नष्टं न भविष्यति । अतः मम पूर्वोक्तप्रस्तावः एव भवता स्वीकरणीयः, येन कार्यद्वयस्यापि सिद्धिर्भवेत्—इति भावः ।

हिन्दी-व्याख्या—(सा) वह—जिसका वर्णन प्रस्तुत है ऐसी (इयम्) यह गाय (मया) मेरे द्वारा (स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण) अपना शरीर आपको अर्पित कर देने के बदले में (भवत्तः) आपसे (मोचयितुम्) छुड़ाने के लिये (न्याय्या) न्यायसंगत है । (एवम्) ऐसा करने से (तव) तुम्हारा [आपका] (पारणा) व्रत के अन्त में किया जाने वाला भोजन (विहता) नष्ट (न स्यात्) नहीं होगा । (च) और (मुनेः) ऋषि वसिष्ठ का (क्रियार्थः) होमादि रूप प्रयोजन भी (अलुप्तः) नष्ट नहीं (भवेत्) होगा ।

भावार्थ—राजा अपनी पूर्व बात को ही पुनः दोहराते हुये सिंह से कहता— इस भाँति अपने शरीर को आपको अर्पित कर मेरे द्वारा इस गाय की रक्षा किया जाना न्यायोचित ही है । ऐसा करने से दोनों ही कार्यों की सिद्धि भी हो

जावेगी। व्रत के अन्त में किया जाने वाला आपका भोजन भी आपको प्राप्त हो जायेगा तथा मुनि वसिष्ठ का होमादि रूप प्रयोजन भी नष्ट नहीं होगा। यह गाय ही उनकी होमादि क्रियाओं की साधिका है—अतः उनका प्रयोजन भी हो ही जावेगा। अतः आप मेरे ही प्रस्ताव को स्वीकार कर लीजिये जिससे कि दोनों ही कार्यों की सिद्धि हो जावे।

व्याकरण—अर्पण—ऋ + णिच् (अर्पि) + ल्युट् (अन्)—अर्पणम्। **देहः**—दिह् + (उपचयार्थक) + घञ (अ) गुण होकर देहः। **निष्क्रयः**—निस् + क्री + अच्। **भवत्तः**—भवत् + तसिल्। **मोचयितुम्**—मुच् + णिच्—मोचय + तुमुन् (तुम्)। **न्याय्या**—न्यायात् अनपेता इति न्याय्या—न्याय + यत् + टाप्। **विहता**—वि + हन् + क्त + टाप्। **लुप्तः**—लुप् + क्त।

समास—स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण—स्वस्य देहः स्वदेहः तस्य अर्पणं स्वदेहार्पणम् तदेव निष्क्रयः इति स्वदेहार्पणनिष्क्रयः तेन। **क्रियार्थः**—क्रिया एव अर्थः—क्रियार्थः। (कर्मधारय)। **अलुप्तः**—न लुप्तः इति अलुप्तः (नञ् तत्पुरुष) (समास)।

टिप्पणियाँ—सा—जिसका वर्णन प्रस्तुत है ऐसी वह। **इयम्**—यह गाय (नन्दिनी)। **स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण**—अपने शरीर को गाय के] बदले में देकर। अर्थात् हे सिंह! तुम मेरे शरीर को खाकर भूख मिटा लो तथा उसके बदले में इस गाय को छोड़ दो। **भवत्तः**—आप से। **मोचयितुम्**—छुड़ाने के लिये। **न्याय्या**—न्यायोचित है, उचित है। मेरे लिये यही उचित है कि अपना शरीर तुमको अर्पित कर इस गाय को बचा लूँ। **एवम्**—इस भाँति—[शरीर देकर गाय की रक्षा करना]। **पारणा**—व्रत के अन्त में किया जाने वाला भोजन। **विहता**—नष्ट। **न स्यात्**—नहीं होगा। **क्रियार्थ**—होमादि रूप प्रयोजन। **अलुप्तः**—लुप्त नहीं होगा। नष्ट नहीं होगा। मुनि की क्रिया (होमादि) का साधन (घृतादि) भी नष्ट नहीं होगा। □

प्रसङ्ग—अपनी बात के समर्थन में राजा सिंह को ही उद्धृत करता हुआ कहता है—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥५६॥

अन्वयः—परवान् भवान् अपि इदं अवैति । हि देवदारौ तव महान् यत्नः। रक्ष्यं विनाश्य स्वयं अक्षतेन (सत्ता) नियोक्तुः अग्रे स्थातुं नहि शक्यम् ॥५६॥

संस्कृत-व्याख्या—परवान् = पराधीनः, भवान् = त्वम्, अपि, इदम् = वक्ष्यमाणं तथ्यम्, अवैति = जानाति । हि = यतः, देवदारौ = तन्नामके दृश्यमाने वृक्षे, महान् = भूयान्, यत्नः = प्रयासः अस्तीति शेषः । रक्ष्यम्—रक्षणीय (वस्तु) विनाश्य = विनाशं गमयित्वा, स्वयम् = आत्मना, अक्षतेन = व्रणरहितेन, [सता] नियोक्तुः = आदेष्टुः अग्रे = पुरतः, स्थातुम्, नहि = न, शक्यम् = न योग्यम्, किञ्च = निजस्वामिनः अधीनस्थो भवानपि जानात्येव यत् सेवकस्य स्वामिवस्तु-रक्षणे किं कर्तव्यं भवतीति । अतएव भवता देवदारुरक्षणे महान् प्रयत्नः क्रियते। रक्षार्थं समर्पितं वस्तु नाशयित्वा स्वयं च स्वस्थशरीरः सन् सेवकः भर्त्तुः समक्षे स्वमुखं कथं दर्शयितुं शक्नोति ? अतः रक्षणीय वस्तु प्राणदानेनापि सरक्षणीय-मेव भवतीति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(परवान्) परतन्त्र (शिव के अधीन) (भवानपि) आप भी (इदम्) (भली-भाँति) (अवैति) जानते ही हैं कि रक्षार्थ दी गयी वस्तु की रक्षा करने में सेवक का क्या उत्तरदायित्व होता है ? । (हि) क्योंकि (देवदारौ) देवदारु वृक्ष पर (तव) तुम्हारा (महान् यत्नः) महान् प्रयत्न है । (रक्ष्यम्) रक्षणीय वस्तु का (विनाश्य) विनाश कराकर (स्वयम्) स्वयं (अक्षतेन) व्रणरहित रहते हुये (नियोक्तुः) नियुक्त करने वाले स्वामी के (अग्रे) समक्ष (स्थातुम्) ठहरने में, (नहि शक्यम्) समर्थ नहीं हो सकता ।

भावार्थ—राजा सिंह से कहता है—परतन्त्र आप भी हैं तथा मैं भी हूँ। आपको अपने स्वामी भगवान् शिव के आदेश का पालन करने हेतु इस देवदारु वृक्ष की यत्नपूर्वक रक्षा करनी है तथा मुझे भी अपने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा पालन हेतु इस गाय की रक्षा करनी है । इस भाँति हम दोनों परतन्त्र हैं । परतन्त्र व्यक्ति का उत्तरदायित्व क्या होता है ? इसे आप और हम भली-भाँति समझते हैं । इसी कारण आप इस वृक्ष की रक्षा करने में संलग्न हैं और मैं इस गौ की रक्षा करने में । रक्षणीय वस्तु का विनाश कराकर स्वयं सुरक्षित रहते हुये कोई भी सेवक अपने स्वामी के समक्ष जाने में कभी समर्थ नहीं हो सकता है । अतः इस रक्षणीय गौ के स्थान पर आप मुझे ही खा लें । ऐसा करने से

हम दोनों ही व्यक्तियों के कर्त्तव्यों का यथोचित रूप से पालन हो जायेगा।

व्याकरण—परवान्—पर + मतुप्, म के स्थान पर व—परवान्। **यत्नः**—यत् + नङ्। **विनाश्य**—वि + नश् + णिच् + क्त्वा—ल्यप्। **रक्ष्यम्**—रक्ष + यत्। **नियोक्तुः**—नि + युज् + तृच् (तृ), गुण—नियोक्तृ—षष्ठी विभक्ति के एकवचन में नियोक्तुः। **स्थातुम्**—स्था + तुमन्। **शक्यम्** + शक + यत्।

समास—अक्षतेन = न विद्यन्ते क्षतानि यस्य तेन।

टिप्पणियाँ—परवान्—पराधीन, परतन्त्र, दूसरे के अधीन। 'परतन्त्रः पराधीनः = परवान्नाथवानपि" इत्यमरः। **अवैति** = जानता है = जानाति। इस स्थल पर जानते हो। आप जानते हो। **देवदारौ** = देवदारु वृक्ष में। **तव** = तुम्हारा। **महान् यत्नः** = महान् प्रयत्न है अर्थात् इस देवदारु की रक्षा करने में आप अत्यधिक प्रयत्नशील हैं। **रक्ष्यम्** = रक्षणीय = रक्षा करने योग्य। जिस वस्तु को रक्षा के निमित्त आपको सौंपा गया है। **विनाश्य** = नाशकर, खोकर। **स्वयं अक्षतेन** = स्वयं व्रणरहित रहते हुये, स्वयं चोट न खाकर। रक्षा के लिये जो वस्तु दी गयी है उसको खोकर अथवा विनष्ट कर अपने आपको सुरक्षित रखते हुये। **नियोक्तुः** = नियुक्त करने वाले के, स्वामी के। **अग्रे** = समक्ष, सामने। **स्थातुम्** = खड़े होने अथवा उपस्थित होने में। **नहि शक्यम्** समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा सेवक कि जिसको किसी वस्तु की रक्षा के निमित्त नियुक्त किया गया हो किन्तु वह उसकी रक्षा न कर सके = स्वयं कुशली व स्वस्थ भी बना रहे तथा उस वस्तु को खो भी दे अथवा अपनी आँखों के समक्ष नष्ट हो जाने दे, तो क्या ऐसा सेवक स्वामी के समक्ष जाने का साहस कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण न कर सकने के कारण स्वयं ही लज्जित रहा करता है।

प्रसङ्ग—राजा को अपने शरीर की अपेक्षा अपने यश की अधिक चिन्ता है—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥५७॥

अन्वयः—किमपि चेत् अहं तव अहिंस्यः मतः (तर्हि त्वम्) मे यशः शरीरे दयालुः भव। मद्विधानां एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु ॥५७॥

संस्कृत-व्याख्या—किमपि = किं वा, केनचिदपि कारणेनेत्यर्थः चेत् = यदि, अहम् = दिलीपः, तव = ते, अहिंस्यः = अवध्यः मतः = सम्मतः, तर्हि = त्वम्,मे = मम, दिलीपस्य, यशःशरीरे = कीर्तितनौ, दयालुः = कारुणिकः, भवः = स्याः । मद्विधानाम् = मादृशानां राज्ञाम् = एकान्तविध्वंसिषु = अनिवार्यरूपेण नश्वरेषु (विनाशशीलेषु वा) भौतिकेषु = पृथिव्यादिपंचतत्त्वरचितेषु, पिण्डेषु = शरीरेषु, अनास्था = अनपेक्षा, खलु = एव (यद्यहं केनचिद् कारणेन भवतां अवध्यः स्याम् तर्हि भवान् मम यशोरूपशरीरे कारुणिकः भव) । यदि भवान् केनचिद् कारणेन मम पंचतत्वनिर्मिते शरीरे दयां कर्तुमिच्छति तर्हि अस्मिन् नश्वरे शरीरे दयां मा कुरु—मां मुक्त्वा च व्रतान्तभोजनं कुरु, एवं मम भौतिके शरीरे नष्टे अपि अहं यशःशरीरे जीविष्यामि एव । भौतिकशरीरापेक्षया अहं स्वकीतिरूपं शरीरं बहुतरमादरणीयं मन्ये। लोकेऽपि कीर्तिरेव चिरस्थायिनी भवति न तु शरीराणि—इति भावः ।

हिन्दी व्याख्या—(किमपि) अथवा किसी कारणवश (चेत्) यदि, (अहम्) मैं (तव) तुम्हारी [आपकी] दृष्टि में (अहिंस्यः) अवध्य अर्थात् न मारने योग्य (मतः) माना जाऊँ अथवा होऊँ (तर्हि) तो (अपि) (मे) मेरे (यशःशरीरे) यशरूपी शरीर पर (दयालुः) दयालु (भव) होइये (मद्विधानाम्) मुझ जैसे व्यक्तियों अथवा राजाओं की (एकान्तविध्वंसिषु) अनिवार्य रूप से विनाशशील (भौतिकेषु) पञ्चतत्वों से निर्मित (पिण्डेषु) शरीरों पर (अनास्था खलु) अनपेक्षा ही रहा करती है ।

भावार्थ—हे सिंह ! यदि किसी भी कारणवश आपकी दृष्टि में मैं मारने योग्य न होऊं अर्थात् यदि आप मेरे इस पंचतत्त्व निर्मित नश्वर शरीर पर ही कुछ दया दिखलाने की इच्छा रखते हों तो आप इस पर तनिक भी दया न कीजिये और मेरे शरीर को खाकर अपनी भूख शान्त कीजिये । ऐसा करने से मेरा यह नश्वर शरीर ही नष्ट हो जायेगा कि जिसको एक दिन निश्चित रूप से नष्ट होना ही है किन्तु मेरा यशरूपी शरीर स्थायी रूप से बना रहेगा और नष्ट नहीं होगा । अतः आप मेरे यशरूपी शरीर पर ही दया कीजिये । क्योंकि मेरे जैसे क्षत्रिय अथवा राजा लोग इस पांच भौतिक (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश) पंचतत्त्वों से निर्मित नश्वर शरीर की अपेक्षा न कर अपने यशरूपी शरीर की अपेक्षा किया करते हैं ।

अलङ्कार—उक्त श्लोक के उत्तरार्ध भाग में विद्यमान सामान्य तथ्य के रा पूर्वार्धगत विशिष्ट बात का समर्थन किये जाने से यहाँ 'अर्थान्तरन्यास' लङ्कार है ।

व्याकरण—अहिंस्यः—हिंस् + ण्यम् = न हिंस्यः = अहिंस्यः । मतः = मत् क्त (त) 'न' का लोप होकर = मतः । । एकान्तविध्वंसिषु = एकान्त + वि + स् + णिनि (इन्) = एकान्तविध्वंसिन् = सप्तमी विभक्ति बहुवचन में । तिकेषु = भूत् + (ठक्) आदि स्वर को वृद्धि = भौतिक = सप्तमी बहुवचन में तिकेषु ।

समास—अहिंस्यः—न हिंस्यः अहिंस्यः (नञ् तत्पुरुष) । **यशः शरीरे**—यशः शरीरं—इति यशः शरीरम् तस्मिन् । **मद्विधानाम्**—मम विधा इव विधा ारो येषां ते मद्विधाः (बहुव्रीहि समास), तेषाम् । **एकान्तविध्वंसिषु**—एकः : यस्य स एकान्तः एकान्तं विध्वंसिनः इति एकान्तविध्वंसिनः तेषु । तिकेषु—भूतानां विकाराः—भौतिकाः तेषु । **अनास्था**—न आस्था—ास्था ।

टिप्पणियाँ—**किमपि**—किं वा, अथवा, किसी कारणवश । अहिंस्यः = ध्य, न मारे जाने योग्य । यदि मैं तुम्हारे द्वारा मारे जाने योग्य नहीं हूँ ा यदि तुम मुझको मार दिये जाने योग्य नहीं समझते हो । **मतः** = माना ँ अथवा माना गया होऊँ । **यशः शरीरे** = (मेरे) यशरूपी शरीर में । लुः = कारुणिक, दयायुक्त । **भव** = हो अथवा होओ । मेरे यशरूपी शरीर की करो अथवा मेरे यश की रक्षा कीजिये । तात्पर्य यह कि हे सिंह ! आप शरीर को खाकर अपनी भूख मिटाइये और इस भाँति मेरे यशः की रक्षा ये । **मद्विधानाम्** = मुझ जैसे क्षत्रिय लोगों का अथवा राजाओं का । **एकान्त-** ंसिषु = अवश्य नष्ट होने वाले (शरीर में) । जिसका नाश एक दिन य होना ही है ऐसे मेरे शरीर पर । यह 'पिण्डेषु' का विशेषण है । केषु = पंचभूतो अथवा पंचतत्वों से निर्मित । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और ाश = यह पञ्चभूत अथवा पञ्चतत्व कहलाते हैं । सभी शरीरों का ण इन्हीं से हुआ करता है । **पिण्डेषु** = शरीरों में । पिण्डों गोले बले देहगोरैकदेशयोः । देहभावे निकाये च', = इति मेदिनी । **अनास्था** =

अनपेक्षा=अपेक्षा का न होना। राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि हम जैसे लोगों को, जो कीर्ति को अधिक पसन्द करते हैं, यह नश्वर शरीर प्रिय नहीं है जिसकी कीर्ति लोक में विद्यमान रहा करती है, वह जीवित ही रहा करता है='कीर्तिर्यस्य स जीवति'।

प्रसङ्ग—अपने कथन का उपसंहार करते हुये राजा सिंह से कहता है—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद् भूतनाथानुग नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥५८॥

अन्वयः—सम्बन्धं आभाषणपूर्वं आहुः सः वनान्ते संगतयो नौ वृत्तः तत् हे भूतनाथानुग। त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि ॥५८॥

संस्कृत व्याख्या—सम्बन्धम्=मित्रत्वम्, आभाषणपूर्वम्=आभाषण आलापः (पारस्परिकवार्तालापः) पूर्वम् अग्रे कारणं यस्य तादृशम्, आहुः=कथयन्ति 'विद्वान्स' इति शेषः। सः=वार्तालापजन्यः सम्बन्धः, वनान्ते=काननप्रान्ते, संगतयोः=मिलितयोः, नौ=आवयोः वृत्तः=जातः। तत्=तस्मात् कारणात्, हे भूतनाथानुग=हे शिवानुचर! हे सिंह!, त्वम्, सम्ब न्धिनः=मित्रतारूप-सम्बन्धवतः, मे+मम, प्रणयम्=याचनाम्, विहन्तम्=नाशयितुम्, न=नहि, अर्हसि=योग्योऽसि। हे सिंह! विद्वान्सः कथयन्ति य मित्रता पूर्वकृतेन पारस्परिकवार्तालापेन उत्पद्यते। तत् सख्यं अस्मिन् स्था कृतालापयेः आवयोः मध्ये जातमेव, अतएवेदानीं अहं तव मित्रमस्मि अस्म त्कारणात् मित्रस्य मम प्रार्थना भवता न अस्वीकार्या।

हिन्दी व्याख्या—विद्वान् लोग (सम्बन्धम्) मित्रता को (आभाषण पूर्वम्) परस्पर किये गये हुए वर्तालाप से उत्पन्न होने वाली (आहुः) कहते हैं (अर्था मैत्री परस्पर बातचीत करने से हो जाया करती है)। (सः) वह मैत्री (वनान्ते) वन के बीच में (सङ्गतयोः) मिले हुये (आवयोः) हम दोनों की (वृत्तः) चुकी है। परस्पर वार्तालापजन्य यह मित्रता हम लोगों की हो ही चुकी है (तत्) इस कारण (हे भूतनाथानुग!) हे भगवान् शङ्कर के सेवक सिंह (त्वम्) तुम (सम्बन्धिनः मे) (अपने) मित्र मुझ दिलीप की (प्रणयम्) याचन अथवा प्रार्थना को (विहन्तुम्) नष्ट अथवा विफल कर देने योग्य नहीं हो (न अर्हसि) योग्य नहीं हो।

भावार्थ—हे सिंह ! विद्वज्जन ऐसा मानते तथा कहते हैं कि मित्रता परस्पर किये गये वार्तालाप से उत्पन्न हो जाया करती है। वह मैत्री वन प्रदेश में मिले हुये तथा वार्तालाप कर चुके हुये हम दोनों के बीच हो ही चुकी है। अतः हे शिवानुचर ! आप अब मित्रता के नाते मेरी प्रार्थना अथवा मेरे कथन को ठुकरा देने योग्य नहीं हो। अब आप मेरी बात को स्वीकार कर लें तथा तदनुसार गाय के बदले में मेरे शरीर को खाकर अपनी भूख शान्त कर लें और गाय को मुक्त कर दें।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में "काव्यलिङ्ग" अलङ्कार है।

व्याकरण—**सम्बन्धम्**—सम् + बन्ध् + घञ्—सम्बन्ध। **आभाषणम्**—आ + भाष् + ल्युट् (अन)। **संगतयोः**—सम् + गम् + क्त (त), धातु के 'म्' का लोप संगत। **वृत्त**—वृत् + क्त। **अनुग**—अनु + गम्। **प्रणयम्**—प्र + नी + अच् (अ) गुण अयादेश, होकर प्रणयः। **विहन्तुम्**—वि + हत् = तुमुन् (तुम्)।

समास—**आभाषणपूर्वम्**—आभाषणं पूर्वं यस्य स आभाषणपूर्वः तम्। **वनान्ते**—वनस्य अन्तः वनान्तः, तस्मिन्। हे **भूतानाथानुग !**—भूतानां नाथः भूतनाथः, अनुपश्चाद् गच्छतीति अनुगः, भूतनाथस्य अनुगः भूतनाथानुगः तत्सम्बुद्धौ हे भूतनाथानुग ! **सम्बन्धिनः**—सम्बन्धोऽस्ति अस्य इति सम्बन्धी तस्य।

टिप्पणियाँ—**सम्बन्धम्**—मित्रता सखाभाव, मैत्री—(सख्यम्)। **आभाषणपूर्वम्**—परस्पर वार्तालाप से ही जिसका प्रारम्भ है। अथवा परस्पर वार्तालापजन्य मैत्री हुआ करती है। **आहुः**—(ऐसा विद्वान् लोग) कहते हैं। "स्यादाभाषणमालापः" इत्यमरः। **सः**—वह सम्बन्ध अथवा मैत्री—मित्रता। **तौ**—हम दोनों का। **वनान्ते**—वन के मध्य—वन प्रदेश में ही। **संगतयोः**—मिलन होने से, मिलने से, हम दोनों वन प्रदेश में मिले भी तथा वार्तालाप भी किया। अतः हम दोनों की मित्रता हो ही गयी। **वृत्तः**—हो गयी। मैत्री हो गयी। हे **भूतानाथानुग**—हे शङ्करजी के अनुचर (सेवक) [सम्बोधन में] **मे सम्बन्धिनः**—मुझ सम्बन्धी की। **प्रणयम्**—याञ्चा को, प्रार्थना को, याचना

को—"प्रणयास्त्वमी । विश्रम्भयाञ्चाप्रेमाणः"—इत्यमरः । विहन्तुम्—नाशयितुम्—नाश करने के लिये, अस्वीकार करने के लिये । न अर्हसि—योग्य नहीं हो । अब मैं तुम्हारा मित्र हो चुका हूँ—अतः मेरी प्रार्थना को अस्वीकार मत करो । इसी भाव का चित्रण कुमारसम्भव के पञ्चमसर्ग में भी महाकवि ने किया है—"यतः सतां सन्नतगात्रिसंगतं मनीषिभिः "सप्तदीनमुच्यते" कुमारसं० ५/३९ का उत्तरार्ध ॥ अर्थात् हे नतांगि ! विद्वानों का कहना है कि सज्जनों की मित्रता तो केवल सात शब्दों के बोलने अथवा सात कदम साथ चलने मात्र से ही हो जाया करती है ।

प्रसङ्ग—सिंह ने राजा की उक्त प्रार्थना को स्वीकार कर लिया । परिणामस्वरूप तूणीर (तरकश) पर चिपका हुआ उनका हाथ छूट गया । अब राजा ने अपना शरीर सिंह को अर्पित कर दिया—

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥

अन्वयः—'तथा' इति गाम् उक्तवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः सः न्यस्तशस्त्रः [सन्] स्वदेह आमिषस्य पिण्डं इव उपानयत् ॥५९॥

संस्कृत-व्याख्या—तथा = तथैवास्तु = यथा भवान् कथयति, इति = इत्थम्, गाम् = वाणीम्, उक्तवते = कथितवते, हरये = सिंहाय, सद्यः = तत्क्षणमेव, प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः = प्रतिष्टम्भात् = प्रतिबन्धात् विमुक्तः त्यक्तः बाहुः भुजः यस्य सः, सः = दिलीपः, न्यस्तशस्त्रः = न्यस्तानि त्यक्तानि शस्त्राणि आयुधानि येन सः न्यस्तशस्त्रः = परित्यक्तायुधः 'सन्', स्वदेहम् = निजशरीरम्, आमिषस्य = मांसस्य, पिण्डम् इव = कवलमिव = उपानयत् = समर्पितवान् ["यथा भवान् अभिलषति तथैव भविष्यति" एवं सिंहेन उक्तेसति राज्ञः प्रतिबद्धः बाहुः विमुक्तोऽभवत् । तदा राजा दिलीपः शस्त्राणि परित्यज्य स्वदेह सिंहाय मांसस्य ग्रासमिव समर्पितवान्] ।

हिन्दी-व्याख्या—[सिंह के द्वारा] (तथा) "ऐसा ही हो" (इति) इस प्रकार की (गाम्) वाणी को (उक्तवते) कह दिये जाने पर (हरये) उस सिंह के लिये (सद्यः) शीघ्र ही (प्रतिष्ठम्भविमुक्तबाहुः) बन्धन से मुक्त हुयी बाँह [भुजा] वाले (सः) उस राजा दिलीप ने (न्यस्तशस्त्रः) शस्त्रों को त्यागकर

(स्वदेहम्) अपने शरीर को (आमिषस्य) मांस के (पिण्डमिव) पिण्ड के सदृश (उपानयत्) समर्पित कर दिया।

भावार्थ--"तुम जैसा चाहते हो वैसा ही हो" ऐसा सिंह द्वारा कह दिये जाने पर अब तक तरकश के ऊपर चिपकी हुयी राजा दिलीप की भुजा छूट गयी। तब राजा ने अपने सम्पूर्ण शस्त्रों को अलग रख दिया तथा उस सिंह के लिये, मांस के ग्रास के सदृश, अपने शरीर को समर्पित कर दिया। □

व्याकरण--उक्तवते --वच + क्तवतु (तवत्) धातु के 'व' को 'उ' सम्प्रसारण होकर 'च' के स्थान पर 'क' होने के पश्चात् उक्तवत्--चतुर्थी विभक्ति, एकवचन में--उक्तवते। विमुक्त--वि + मुच् + क्त। न्यस्त--नि + अस् + क्त।

समास—प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः—प्रतिष्टम्भात् विमुक्तः इति प्रतिष्टम्भविमुक्तः, प्रतिष्टम्भविमुक्तः बाहुः यस्य सः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः। **न्यस्तशस्त्रः**—न्यस्तानि शस्त्राणि येन सः (बहुव्रीहि)। **स्वदेहम्**—स्वस्य देहः स्वदेहः तम्।

टिप्पणियाँ—तथा इति—ऐसा ही हो [जैसा तुम चाहते हो वैसा ही हो ऐसा सिंह द्वारा कह दिये जाने पर] "एवमस्तु"। **गाम्**—वाणी को। **उक्तवते**—कह चुके हुये [सिंह के लिये] यह 'हरये' का विशेषण है। **हरये**—सिंह के लिये--सिंहाय—"कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः" इति शाश्वतः। **सद्यः**—शीघ्र ही, तुरन्त, उसी क्षण--"तत्क्षणं"। **प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः**—प्रतिबन्ध (अवरोध अथवा रुकावट) से मुक्त (छूटी) हुयी भुजा वाले। **सः**—वह (राजा दिलीप)। **न्यस्तशस्त्रः**—रख दिये हैं शस्त्र जिसने ऐसे राजा दिलीप ने। **स्वदेहम्**—अपने शरीर को। **आमिषस्य**—माँस के "मांसस्य"। पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम् "इत्यमरः। **पिण्डमिव**—पिण्ड अथवा ग्रास के सदृश (समान)। **उपानयत्**—समर्पित कर दिया—अर्पण कर दिया। □

प्रसङ्ग—विद्याधरों (देवयोनिविशेष) द्वारा राजा दिलीप के ऊपर पुष्पों की वर्षा की गई—

तस्मिन क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातं उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य प्रजानां पालयितुः उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥६०॥

संस्कृत-व्याख्या—तस्मिन् = पूर्वोक्ते, क्षणे = अवसरे — सिंहाय स्वदेहार्पण-काले = इत्यर्थः, उग्रम् = भयङ्करम्, सिंहनिपातम् = सिंहस्य मृगराजस्य निपात आक्रमणम्, उत्पश्यतः = उत्प्रेक्षमाणस्य, अवाङ्मुखस्य = अधोमुखस्य, प्रजानाम् = जनानाम्, पालयितुः = रक्षितुः — दिलीपस्य, उपरि = उपरिष्टात्, विद्याधरहस्तमुक्ता = विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैः करैः मुक्ता विसृष्टा = निपातिता वा पुष्पवृष्टिः = पुष्पाणाम् कुसुमानां वृष्टिः वर्षा, पपात = अपतत् = बभूवेत्यर्थः [तदा मृगेन्द्राय स्वदेहं समर्प्य स्वमुखमधः कृत्वा भयावहं सिंहनिपतनं मनसि विचारयतः प्रजापालकस्य राज्ञः दिलीपस्योपरि आकाशात् विद्याधरः कुसुम-वृष्टिमकुर्वन्—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(तस्मिन् क्षणे) उस समय (उग्रम्) भयंकर (सिंहनिपातम्) सिंह के [अपने ऊपर] आक्रमण को (उत्पश्यतः) प्रतीक्षा करते हुये (अवाङ्मुखस्य) नीचे की ओर अपने मुख को किये हुये (प्रजानाम्) प्रजाओं का (पालयितुः) पालन करने वाले राजा दिलीप के (उपरि) ऊपर (विद्याधर-हस्तमुक्ता) विद्याधरों द्वारा अपने हाथों से छोड़ी गयी हुई (पुष्पवृष्टिः) फूलों की वर्षा (पपात) गिरी ।

व्याकरण—निपात—नि + पत् + घञ् (अ)—उपधावृद्धि होकर निपात । **उत्पश्यतः**—उत् + दृश् + शतृ (अत्) धातु 'दृश्' के स्थान पर "पश्य्" आदेश हो जाने पर—उत्पश्यत् षष्ठी विभक्ति एकवचन में उत्पश्यतः । **पालयितुः**—पाल् + णिच् (पालय्) + तृच् (तृ) + इडागम—षष्ठी विभक्ति के एकवचन में पालयितुः । **मुक्ता**—मुच् + क्त + टाप् ।

समास—सिंहनिपातम्—सिंहस्य निपातः—सिंहनिपातः तम् । अवाङ्मुखस्य—अवाङ्मुखं यस्य स अवाङ्मुखः तस्य । **विद्याधरहस्तमुक्ता**—विद्याया गुटिकाऽञ्जनादि विषयिण्या धरा धारका इति विद्याधराः तेषां हस्तैः मुक्ता-इति । **पुष्पवृष्टि**—पुष्पाणां वृष्टिः इति ।

टिप्पणियाँ—तस्मिन् क्षणे—(जब राजा ने अपना शरीर सिंह को अर्पित कर दिया तब) उस समय । **उग्रम्**—भयङ्कर, भयावह । **सिंहनिपातम्**—सिंह के आक्रमण को—सिंह के अपने ऊपर कूदने [गिरने] को । **उत्पश्यतः**—प्रतीक्षा करने

वाले [दिलीप] का। **अवाङ्मुखस्य**--नीचे की ओर मुख किये हुये राजा दिलीप का। **प्रजानाम्**—प्रजाओं के, प्रजा के लोगों के। **पालयितुः**--पालक--पालन करने वाले। [दिलीप] का। **विद्याधरहस्तमुक्ता**--विद्याधरों (देवयोनिविशेष) के हाथों से छोड़ी गयी हुई पुष्पवर्षा। देवताओं की एक विशिष्ट प्रकार की योनि का नाम विद्याधर है। इस विशिष्ट योनि वाले देवगणों द्वारा राजा दिलीप के ऊपर फूलों की वर्षा की गयी। **पुष्पवृष्टिः**--पुष्पों अथवा फूलों की वर्षा। **पपात**--गिरि--(हुई) पुरातनकाल के इस प्रकार के अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं कि जिनका अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उस समय यदि किसी व्यक्ति के द्वारा कोई लोकोत्तर अथवा असाधारण कार्य किया जाया करता था तो उस व्यक्ति के उस कार्य को देखकर देवगण अत्यन्त हर्षित होते थे तथा हर्ष-विभोर होकर उस पर फूलों की वर्षा भी किया करते थे। इसी प्रकार का स्वशरीर-दान रूपी कार्य इस समय राजा दिलीप द्वारा भी किया गया था, अतः विद्याधरों ने उनके ऊपर भी फूलों की वर्षा की। □

प्रसङ्ग--नन्दिनी द्वारा कहे जाने पर राजा दिलीप उठकर खड़े हो गये। उस समय वह सिंह वहाँ पर विद्यमान न था--अदृश्य हो गया था--

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतःप्रस्नविणीं न सिंहम्॥६१॥

अन्वयः—"हे वत्स ! उत्तिष्ठ" इति अमृतायमानं उत्थितं वचः निशम्य उत्थितः सन् राजा अग्रतः स्वां जननीमिव प्रस्नविणीं गां ददर्श, सिंहं न ददर्श॥६१॥

संस्कृत-व्याख्या—"हे वत्स !, हे पुत्र ! उत्तिष्ठ = उत्थितो भव," इति = इत्थम्, अमृतायमानम् = सुधासदृशम्, उत्थितम् = उत्पन्नम् = प्रतीयमानमितिभावः, वचः = वचनम्, निशम्य = श्रुत्वा, उत्थिता सन् = उर्ध्वावस्थितः; सन् राजा = नृपः दिलीपः, अग्रतः = पुरतः = स्वसमक्षेः = इत्यर्थः, स्वाम् = स्वकीयाम्, जननीम् = मातरम्, इव = सदृशम्, प्रस्नविणीम् = दुग्धस्राविणीम्, गाम् = धेनुम् = नन्दिनीम्, ददर्श = अवलोकितवान्, सिंहम् = केसरिणम्, न ददर्श = नापश्यत् [राज्ञः = दिलीपस्य नन्दिन्याः रक्षायै कृतेन स्वदेहार्पणरूपेण असाधारणेन लोकोत्तरकार्येण प्रभाविता विद्याधरा यदा दिलीपोपरि कुसुमवृष्टिं

पातयामासुः तदा नन्दिनी नृपमाह—"हे पुत्र ! उत्थितो भव"। नन्दिन्याः अमृततुल्यं इदं वचनं श्रुत्वा राजा उत्थितः। उत्थाय च सः तत्र स्वसमक्षं स्वकीयां पुत्रवत्सलां जननीमिव दुग्धास्राविणीं गां नन्दिनीमेव अपश्यत् न तु सिंहम् इति भावः]।

हिन्दी-व्याख्या—"(हे वत्स !) हे पुत्र ! (उत्तिष्ठ) उठो", (इति) इस प्रकार के (अमृतायमानम्) अमृत के समान (उत्थितम्) प्रतीत होने वाले (वचम्) वचन को (निशम्य) सुनकर (उत्थितः सन्) उठकर खड़ा हुआ (राजा) राजा दिलीप ने (अग्रतः) अपने सामने आगे (स्वां) अपनी (जननीम्) पुत्रवत्सला माता के (इव) समान (प्रस्नविणीम्) थनों से दूध को चुआने वाली (गाम्) गाय नन्दिनी को (ददर्श) देखा (सिंहम्) सिंह को (न) नहीं (ददर्श) देखा।

भावार्थ—राजा के इस प्रकार से लोकोत्तर असाधारण कार्य से प्रसन्न हुये विद्याधर (देवगण) जब राजा के ऊपर पुष्पवर्षा करने लगे तब गाय नन्दिनी ने राजा से कहा "हे पुत्र ! उठो,' उसके इन अमृत-सदृश वचनों को सुनकर जब राजा उठकर खड़ा हुआ तब उसने समक्ष खड़ी हुई अपनी पुत्रवत्सला मां के समान अपने थनों से दूध को चुआती हुई उस गाय नन्दिनी को देखा, सिंह को नहीं देखा (सिंह वहाँ से अदृश्य हो चुका था)।

व्याकरण—**अमृतायमानम्**—अमृतं इव आचरति—इस अर्थ में अमृत से क्यच् प्रत्यय होकर—अमृताय + शानच् "उपमानादाचारे" इस सूत्र से। आन) + मुक् (म) का आगम होकर 'अमृतायमानम्'। **उत्थितम्**—उत् + स्था + क्त (त) धातु के 'आ' के स्थान पर 'इ' होकर उत्थितम्। **निशम्य**—नि + शम् + ल्यप्। **प्रस्नविणीम्**—प्र + स्नु + अप् (अ) गुण अवादेश—प्रस्नव। प्रस्नव + इनि (इन्) 'व' के 'अ' का लोप—प्रस्नविणी—स्त्रीत्व की विविक्षा में ङीप् (ई), 'न' के स्थान पर 'ण'—प्रस्नविणी—द्वितीया विभक्ति के एकवचन में—प्रस्नविणीम्। **जननीम्**—जन् + ल्यु (अन्)—जनन + ङीप् (ई)—जननी—द्वितीया विभक्ति के एकवचन में जननीम्। **ददर्श**—दृश् + लिट् प्रथम पुरुष एकवचन में—ददर्श।

समास—**अमृतायमानम्**—अमृतमिवाचरतीति अमृतायामानम्। **जननीम्**—जनयति या सा जननी ताम्। **प्रस्नविणीम्**—प्रस्नवो अस्याः अस्तीति प्रस्नविणी ताम् अथवा—प्रस्नवः दुग्धस्रावः अस्ति यस्याः सा प्रस्नविणी ताम्।

टिप्पणियाँ—हे वत्स !—हे पुत्र ! । **उत्तिष्ठ**--उठो, उठ जाओ। **इति**—इस प्रकार से । **अमृतायमानम्**—अमृत के सदृश, अमृततुल्य । **उत्थिम्**--उत्पन्न हुये, पैदा हुये । यह "वचः" का विशेषण है। **वचः**--वचन, वाक्य, कथन । **निशम्य**--सुनकर । **आकर्ण्य**—श्रुत्वा । **उत्थित सन्**--उठकर [राजा दिलीप ने] यह "नृपः" का विशेषण है। **स्वाम्**—अपनी—स्वकीया। **जननीम्**--माता के । **इव**--सदृश, समान । **प्रस्रविणीम्**--[अपने थनों से दूध को चुआने वाली (गाय-नन्दिनी) को अथवा उत्तम दूध देने वाली को। **ददर्श**--देखा । □

प्रसङ्ग--इस घटना से चकित राजा दिलीप को देखकर गाय-नन्दिनी सिंह सम्बन्धी घटना का वास्तविक रहस्य बतलाती है--

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो, मायां मयोदभाव्य परीक्षितोऽसिः ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि, प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥६२॥

अन्वयः—अस्मितं तं धेनुः उवाच–साधो ! मया मायां उद्भाव्य परीक्षितः असि । ऋषिप्रभावात् मयि अन्तकः अपि प्रहर्तुं न प्रभुः अन्यहिंस्राः किमुतः ? ॥६२॥

संस्कृत-व्याख्या—विस्मितम् = आश्चर्ययुक्तम्, तम् = राजानं दिलीपम्, धेनुः = गौ = नन्दिनी, उवाच = जगादः, साधो ! हे सज्जन ! हे परोपकारिन् !, मया = नन्दिन्या [एव] मायाम् = सिंहरूपां मायाम्, उदभाव = उत्पाद्य, [त्वम्] परीक्षितः = परीक्षाविषयीकृतः, असि । ऋषिप्रभावात् ऋषेः वसिष्ठस्य प्रभावात् सामर्थ्यात्, मयि = धेनौ अन्तकः अपि = यमराजोऽपि, प्रहर्तुम् = प्रहारं कर्तुं = हन्तुं वाः न प्रभुः = न समर्थः अन्यहिंस्राः = इतरहिंसकजन्तवः किमुत = तेषां तु का कथा—ते तु सर्वथैवासमर्था—इत्यभिप्रायः [आश्चर्यचकितं राजानं दिलीपमवलोक्य नन्दिनी उवाच हे पुत्र ! अहमेव मायामयं सिंहं उत्पाद्य तव भक्तेः परीक्षां कृतवती । वसिष्ठमहर्षिप्रभावाद यमराजोऽपि मयि प्रहारं कर्तुं न शक्नोति—अन्येषां हिंसकजन्तूनाम् तु का शक्तिः अर्थात् ते तु कथमपि न प्रभवन्ति—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(विस्मितम्) आश्चर्य में पड़े हुये (तम्) उस राजा

दिलीप से (धेनुः) वह गाय नन्दिनी (उवाच) बोली—(हे साधो) हे परोपकारिन्, हे रक्षक, (मया) मैंने ही (माया उद्भाव्य) माया को [माया रूपी सिंह को] उत्पन्न करके (परीक्षितः असि) [तुम्हारी] परीक्षा ली है। (ऋषिप्रभावात्) महर्षि वसिष्ठ के प्रभाव से (मयि) मेरे ऊपर (अन्तकः) यमराज (अपि) भी (प्रहर्तुम्) प्रहार अथवा आक्रमण कर सकने में (न प्रभुः) समर्थ नहीं हैं; (अन्यहिंस्राः) [फिर] अन्य व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं की तो (किमुत) बात ही क्या ? अर्थात् वे तो किसी भी दशा में मेरे ऊपर आक्रमण कर सकने में समर्थ हो ही नहीं सकते हैं।

भावार्थ—पुष्प-वर्षा तथा अचानक ही सिंह के वहाँ से अदृश्य हो जाने के कारण आश्चर्य में पड़े हुये उस राजा को देखकर नन्दिनी नामक उस गाय ने उस राजा से कहा—हे अन्य प्राणियों के रक्षक, सज्जन राजन् ! मैंने स्वयं माया शक्ति द्वारा इस सिंह का निर्माण किया था तथा इस भाँति तुम्हारी भक्ति की परीक्षा ली थी। मुझे यह जानना था कि तुम अपने सेवा-व्रत में कहाँ तक सच्चे तथा त्यागी हो ? मैंने यह सब समझ लिया। यह सिंह तो मात्र माया-सिंह ही था, अतः माया रूपी पटल के हटने ही वह सिंह भी अदृश्य हो गया। वास्तविकता तो यह है कि महर्षि वसिष्ठ के ही प्रभाव से मेरे ऊपर कोई भी हिंसक जन्तु आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता। फिर इन जंगली सिंहादि हिंसक जन्तुओं की तो बात ही क्या ? मुझे विश्वास है कि वास्तविकता को समझ जाने पर अब आपका आश्चर्य समाप्त हो गया होगा।

व्याकरण—**विस्मितम्**—वि + स्मि + क्त (त)। **साधो**—साध् + उण्—सम्बोधन में। **उद्भाव्य**—उद् + भू + णिच् (भावि) + ल्यप्—उद्भाव्य। **परीक्षितः**—परि + ईक्ष् + क्त (त) + इट्—परीक्षित। **प्रहर्तुम्**—प्र + हृ + तुमुन् (तुम्)। **हिंस्राः**—हिंस् + र—"नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपोरः" से 'र' प्रत्यय हुआ है।

समास—**साधो**—साध्नोति परकार्याणि इति साधुः तत्सम्बोधने साधो !। **मायाम्**—विश्वं माति यस्यामिति माया ताम्। **ऋषिप्रभावात्**—ऋषेः प्रभावः ऋषिप्रभावः तस्मात्। **अन्यहिंस्रा**—अन्ये च ते हिंस्राः अन्यहिंस्रा।

टिप्पणियाँ—**विस्मितम्**—आश्चर्यचकित—आश्चर्य में पड़े हुये। **मया**—मेरे द्वारा—मुझ नन्दिनी द्वारा। यहाँ 'अनुक्ते कर्तरि' तृतीया विभक्ति हुई है। **साधो**--हे सज्जन ! हे परोपकारिन् !, हे अन्य प्राणियों से बचाने वाले राजन्। **मायाम्**—माया को, माया रूपी सिंह को। **उद्भाव्य**—उत्पन्न करके, **रचयित्वा**—बना करके। **परीक्षितः असि**—परीक्षित हुये हो। मैंने ही माया का सिंह बनाकर तुम्हारी परीक्षा ली थी कि तुम्हारे हृदय में मेरे लिये किस प्रकार की तथा कितनी भक्ति है ? **ऋषिप्रभावात्**—ऋषि (महर्षि वसिष्ठ) के प्रभाव से अथवा ऋषि की सामर्थ्य अथवा तेज से--"प्रभावस्तेजसि शक्तौ" इत्यमरः। **मयि**—मेरे ऊपर—मुझ गाय नन्दिनी के ऊपर। **अन्तकः**—यम, यमराज। **प्रहर्तुम्**—प्रहार करने के लिये—आक्रमण करने हेतु। **न प्रभुः**—नहीं समर्थ है अथवा नहीं कर सकता है। **अन्यहिंस्राः**—अन्य हिंसक प्राणी—दूसरे घातक जीव। **किमुत**—कहना ही क्या—बात ही क्या है ? **अन्यहिंस्राः किमुत**—अन्य हिंसक प्राणियों की तो बात ही क्या है—अर्थात् वे तो किसी भी दशा में आक्रमण कर ही नहीं सकते हैं। □

प्रसङ्ग—अब राजा दिलीप की भक्ति से प्रसन्न हुई नन्दिनी राजा से वर माँगने के लिये कहती है—

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥६३॥

अन्वयः—हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या, मयि अनुकम्पया च ते प्रीता अस्मि, वरं वृणीष्व। मां केवलानां प्रसूतिं न अवेहि। प्रसन्नां मां कामदुघां अवेहि ॥६३॥

संस्कृत-व्याख्या—हे पुत्र ! हे वत्स !, गुरौ=वसिष्ठे, भक्त्या=श्रद्धया, मयि=नन्दिन्यां, अनुकम्पया=दयया च, ते=तुभ्यम्, प्रीता=प्रसन्ना, अस्मि। वरम्=वरणीयं स्वाभीष्टम्, वृणीष्व=याचस्व। माम्=नन्दिनीम्, केवलानाम्=एकमात्रणाम्, पयसाम्=दुग्धानाम्, प्रसूतिम्=उत्पादयित्रीं=दात्रीमित्यर्थः, न=नहि, अवेहि। जानीहि [किन्तु] प्रसन्नाम्=प्रीताम् माम्=नन्दिनीम्, कामदुघाम्=सर्वमनोरथपूरयित्रीम्, अवेहि=जानीहि [प्रसन्ना नन्दिनी दिलीपं कथयति यत् हे पुत्र ! यत त्वया स्वगुरौ वसिष्ठमुनौ भक्तिः दर्शिता, मयि च दया प्रकटीकृता। अतस्तेऽहं अतिप्रसन्ना अस्मि। मम प्रसन्नता कदापि निष्फला

न भवति, प्रीताऽहं सर्वाभीष्टसाधिकाऽपि अस्मि। अतस्त्वं स्वमनोऽनुकूलं वरं याचस्व। त्वं मां केवलानां दुग्धानां दात्रीमेव न जानीहि, अपितु कामधेनुदुहितृतया सकलाभीष्टदायिनीमपि जानीहीति भावः।

हिन्दी व्याख्या—(हे पुत्र!) हे पुत्र! (गुरौ) गुरु वसिष्ठ के प्रति [आपको] (भक्त्या) भक्ति से, (मयि च) और मेरे ऊपर (अनुकम्पया) [आपकी] दया से (ते) [मैं] तुमसे (प्रीता) प्रसन्ना (अस्मि) हूँ। (वरम्) [अब तुम] वर (वृणीष्व) माँग लो। (माम्) मुझको (केवलानाम्) केवल (पयसाम्) दूध को (प्रसूतिम्) उत्पन्न करने वाली अथवा देने वाली ही (न अवेहि) न समझो। [अपितु] (प्रसन्नः) प्रसन्न हुयी (माम्) मुझको (कामदुधाम्) कामनाओं को पूर्ण करने वाली (अवेहि) जानो।

भावार्थ—गाय नन्दिनी ने राजा से कहा कि जो आपने अपने गुरु वसिष्ठ के प्रति भक्ति दिखलाई है तथा मेरे प्रति दया का प्रदर्शन किया है उससे मैं तुमसे बहुत अधिक प्रसन्न हो गई हूँ। अतः तुम अपना मनचाहा वर मुझसे माँग लो। तुम केवल यही न समझो कि मैं केवल दुग्ध देने वाली गाय हूँ अपितु कामधेनु की पुत्री होने के कारण मैं जिस पर प्रसन्न हो जाती हूँ उसकी कामनाओं को पूर्ति करने वाली हूँ ऐसा जानो। अतः तुम इस समय मुझसे अपना मनचाहा वर प्राप्त कर सकते हो।

व्याकरण—**भक्त्या**—भज् + क्तिन्—'ज्' को 'ग्' तथा 'ग्' को 'क्' होकर भक्ति-तृतीया विभक्ति के एकवचन में भक्त्या। **अनुकम्पया**—अनु + कम्प् + अङ् (अ) + टाप् (आ)—अनुकम्पा तृतीया विभक्ति, एकवचन में अनुकम्पया। **प्रीता**—प्री + क्त (त) + टाप्। **वरम्**—वृ + अप्—गुणक्रूरः—द्वितीया एकवचन में। **प्रसूतिम्**—प्र + सू + क्तिन्। **प्रसन्नाम्**—प्र + सद् + क्त (त) धातु के 'द्' तथा प्रत्यय के 'त' को 'न' होकर प्रसन्ना—द्वि० ए० व० में। **कामदुधाम्**—काम + दुह् + कप् (अ)—'दुहः कब्घश्च' सूत्र से 'ह्' को 'घ्' आदेश—कामदुघा-द्वितीया विभक्ति के एकवचन में कामदुघाम्।

समास—**कामदुधाम्**—कामान् दोग्धीति कामदुघा ताम्।

टिप्पणियाँ—**गुरौ**—गुरु में अथवा गुरु वसिष्ठ के प्रति। **भक्त्या**—भक्ति होने के कारण। गुरु वसिष्ठ के प्रति तुम्हारी सच्ची भक्ति है—इस कारण।

मयि—मुझ नन्दिनी में—मुझ में। अनुकम्पया—दया करने से। तुमने सिंह से मेरी रक्षा की। तुम अपना शरीर देकर मुझे बचा रहे थे-इसलिये। प्रीता-प्रसन्न। वरम्—वर, वरदान। वृणीष्व—माँग लो, [वर की] याचना कर लो। माम्—मुझको, मुझ (नन्दिनी) को। केवलानाम्—केवल, मात्र, सिर्फ, एकमात्र। पयसाम्—दूध की। प्रसूतिम्—उत्पादिका—उत्पन्न करने वाली अथवा [दुग्ध] देने वाली। अवेहि—जानो, समझो, जानिये, समझिये। तुम मुझको केवल दूध देने वाली गाय ही न समझो। प्रसन्नाम् माम्—प्रसन्न हुयी मुझको। कामदुधाम्—कामनाओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं अथवा मनोरथों को पूरा करने वाली अर्थात् अभीष्ट फलों को प्रदान करने वाली। हे राजन् दिलीप! तुम मुझको कामनाओं को पूर्ण करने वाली भी जानो। अतः अपनी अभीष्ट बात को मुझसे कहो अथवा उसकी याचना वरदान के रूप में मुझसे कर लो। "काम स्मरेच्छाकाम्येषु"—इति चाने०। मैं तुम्हारे अभीष्ट की पूर्ति अवश्य करूँगी।

प्रसङ्ग—अब राजा दिलीप नन्दिनी से वर माँगते हैं—

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥६४॥

अन्वयः—ततः स्वहस्तार्जितवीरशब्दः मानितार्थी सः हस्तौ समानीय सुदक्षिणायां वंशस्य कर्त्तारं अनन्तकीर्तिं तनयं ययाचे ॥६४॥

संस्कृत-व्याख्या—ततः—तदनन्तरं, स्वहस्तार्जितवीरशब्दः=स्वहस्ताभ्यां निजकराभ्यां, अर्जितः लब्धः वीरशब्दः 'वीर' इति पदवी येन तादृशः, मानितार्थी =मानिताः सन्तोषिताः अर्थिनः याचकाः येन तादृशः सः=दिलीपः हस्तौ=करौ, समानीय=संयोज्य, सुदक्षिणायाम्=सुदक्षिणा इति नामिकायां स्वधर्मपत्न्याम्, वंशस्य=निजकुलस्य, कर्त्तारम्=प्रवर्त्तयितारम्, अनन्तकीर्तिम्—अनन्ता अवधिरहिता—[सर्वकालस्थायिनी सर्वदिग्व्यापिनी चेति भावः] कीर्तिः =यशः यस्य एतादृशम्, तनयम्=पुत्रम्, ययाचे=अयाचत [नन्दिन्या वरयाचनाय प्रेरितः, सम्मानितयाचकः स्वभुजबललब्धवीरपदवीकः स राजा दिलीपः अञ्जलिं बद्ध्वा स्वपत्न्यां सुदक्षिणायां कुलप्रवर्त्तकं, यशस्विनं पुत्रं प्रार्थितवानिति भावः।

हिन्दी-व्याख्या--(ततः) तदनन्तर---अर्थात्---नन्दिनी द्वारा वर माँगने हेतु विवश कर दिये जाने के पश्चात् (स्वहस्तार्जितवीरशब्दः) अपने ही हाथों से [अर्थात् अपने ही बाहुबल से] 'वीर' इस नाम अथवा पदवी को प्राप्त करने वाले (मानितार्थी) याचकों का मान रखने वाले [अर्थात् याचकों को सन्तुष्ट करने वाले] (सः) उस राजा दिलीप ने (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को (समानीय) जोड़कर [अर्थात् अञ्जलि बाँधकर] (सुदक्षिणायाम्) अपनी रानी सुदक्षिणा में (वंशस्य) अपने कुल की (कर्त्तारम्) परम्परा को चलाने वाले [अर्थात्---वंश चलाने वाले] (अनन्तकीर्तिम्) चिरस्थायी कीर्ति वाले (तनयम्) पुत्र को (ययाचे) माँगा [अर्थात् मुझे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो---ऐसा वरदान नन्दिनी से माँगा]।

भावार्थ--जब राजा ने यह भली-भाँति समझ लिया कि गाय नन्दिनी उनको मनोवाञ्छित वर देना ही चाहती है तो उन्होंने हाथ जोड़कर नन्दिनी से अपने वंश को चलाने वाले तथा अनन्त कीर्तिशाली पुत्र की याचना की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वे गो-सेवा में पूर्ण मनोयोग के साथ संलग्न थे। आज उनके उक्त उद्देश्य की पूर्ति हो ही गई।

अलङ्कार---उक्त श्लोक में "परिकर" नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—**मानितार्थी**---मान् + क्त (त) मानित। अर्थ + इनि---अर्थी। **समानीय**---सम् + आ + नी + ल्यप्। **कर्त्तारम्**---कृ + तृच् द्वितीया विभक्ति एकवचन में कर्त्तारम्।

समास—**स्वहस्तार्जितवीरशब्दः** = स्वस्य हस्तौ स्वहस्तौ ताभ्यां अर्जितः। स्वहस्तार्जितः 'वीर' इत्याख्यः शब्दः इति वीरशब्दः, स्वहस्तार्जितः वीरशब्दः येन सः। **मानितार्थी** = मानिताः अर्थिनः येन सः। **अनन्तकीर्तिम्** = अविद्यमानोऽन्तोऽस्या इत्यनन्ता, अनन्ता कीर्तिर्यस्य सः अनन्तकीर्तिः तम्।

टिप्पणियाँ—**ततः**—तदनन्तर—प्रसन्न हुयी नन्दिनी द्वारा वर माँगने के लिये बार-बार कहे जाने पर। **स्वहस्तार्जितवीरशब्द**—अपने हाथों से [अपने भुजबल से] 'वीर' इस नाम को प्राप्त करने वाले। **मानितार्थी**—याचकों को आदर करने वाला। याचकों की माँगों अथवा इच्छाओं की पूर्ति करने वाला। **सः**—वह राजा दिलीप। **हस्तौ**—दोनों हाथों को। **समानीय**—जोड़कर अर्थात्

अञ्जलि बाँधकर । अनन्तकीर्तिम्—अनन्त अर्थात् चिरस्थायी अथवा जब तक यह संसार चलता रहे उस समय तक-अनन्तकाल तक विद्यमान रहने वाली कीर्ति से युक्त । अथवा कीर्ति वाले । वंशस्य कर्त्तारम्—वंश को चलाने वाले । यह 'तनयम्' का विशेषण है । सुदक्षिणायां तनयम्— सुदक्षिणा में पुत्र को—अर्थात् सुदक्षिणा के गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र को । ययाचे—मांगा, याचना की । ऐसे पुत्र की याचना की जो अनन्तकीर्ति सम्पन्न हो तथा जो कुल (वंश) को आगे चलाने वाला हो ।

उक्त पद्य में विद्यमान 'स्वहस्तार्जितवीरशब्दः" तथा "मानितार्थी" दोनों विशेषणों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा दिलीप याचकों को सदैव उनकी इच्छा पूर्ण कर सम्मानित किया करते थे । उन्होंने किसी के समक्ष कभी कोई याचना नहीं की थी तथा उन्होंने स्वयं ही अपनी भुजाओं के बल पर 'वीर' नामक पदवी को भी प्राप्त किया । वे अपने जीवन में किसी के आगे कभी झुके नहीं थे । किन्तु वे आज गौ नन्दिनी के समक्ष श्रद्धावनत तो हो ही रहे हैं, साथ ही साथ उससे वर-याचना भी कर रहे हैं । इसका एकमात्र कारण है—"गौ-नन्दिनी के प्रति उनकी असीम एवं अगाध श्रद्धा थी" । वे उसे अपनी माँ के सदृश ही समझते थे । उन्होंने 'पुत्र' की याचना की । पुत्र सम्बन्धी वर याचना गौ द्वारा पूरी की गयी । राजा दिलीप को 'रघु' नामक पुत्र की प्राप्ति हुयी जिसके द्वारा उनका वंश बराबर चला तथा जो अनन्त यश वाला भी हुआ । इसी 'रघु' के नाम पर महाकवि कालिदास द्वारा "रघुवंश" जैसे महाकाव्य की रचना की गई । □

प्रसङ्ग—उस नन्दिनी के स्तनों से दूध चू रहा था । इसी दूध को पीने के लिये गौ-नन्दिनी ने राजा को आदेश दिया और कहा कि इसका पान कर लेने से तुम्हारा अभीष्ट अवश्य सिद्ध होगा--

संतानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥६५॥

अन्वयः—पयस्विनी सा संतानकामाय राज्ञे तथा इति कामं प्रतिश्रुत्य "हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपटे दुग्ध्वा उपभुङ्क्ष्व" इति तं आदिदेश ॥६५॥

संस्कृत व्याख्या—पयस्विनी = प्रदस्तदुग्धा, सा = नन्दिनी, संतानकामाय = पुत्राभिलाषिणे, राज्ञे = नृपाय दिलीपाय, "तथा इति" = भवान् यथाऽभिलषति तथैव भविष्यति = इति = उक्तस्वरूपम्, कामम् = काम्यं वरम्, प्रतिश्रुत्य = प्रतिज्ञाय, "हे पुत्र ! मदीयम् = मामकीनम्, पयः = दुग्धम्, पत्रपुटे = पर्णनिर्मिते पात्रे, दुग्ध्वा = दोहनं कृत्वा, उपभुङ्क्ष्व = पिब," इति, तम् [राजानं दिलीपम्]–आदिदेश = आज्ञापितवती [यदा नन्दिनी दिलीपप्रार्थनया इदम् अवागच्छत् यत् वत्सः पुत्राभिलाषी अस्ति तदा सा तस्मै दिलीपाय 'तथाऽस्तु' इति प्रतिज्ञाय पुनः इदमकथयत् = 'हे पुत्र ! त्वं मम दुग्धं पत्रपुटे दुग्ध्वा पिब । अनेन ते पुत्रप्राप्तिर्भविष्यति—इति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(पयस्विनी) उत्तम दुग्ध वाली (सा) उस नन्दिनी ने (सन्तानकामाय) सन्तान-प्राप्ति के इच्छुक (राज्ञे) राजा दिलीप के लिये—'तथा इति'—[जैसा आप चाहते है] वैसा ही होगा ऐसा (कामम्) चाहे हुये वर को देने की प्रतिज्ञा करके 'हे पुत्र !—[तुम] (मदीयम्) मेरे (पयः) दूध को (पत्रपुटे) पत्तों से निर्मित 'दोने' नामक पात्र में (दुग्ध्वा) दुहकर (उपभुङ्क्ष्व) पी लो" (इति) इस भाँति (तम्) उस राजा दिलीप को (आदिदेश) आज्ञा दी।

भावार्थ—जब गाय नन्दिनी को यह ज्ञात हो गया कि राजा दिलीप पुत्र-प्राप्ति का इच्छुक है तो उसने उसके द्वारा याचित वर को देने की घोषणा कर दी तथा यह भी राजा से कहा कि तुम पत्तों से बने हुये 'दोने' नामक पात्र में मेरा दूध दुहकर पी लो। ऐसा करने से तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जायेगी अर्थात् पुत्र की प्राप्ति अवश्य होगी।

व्याकरण—पयस्विनी—पयस् + विनि + ङीप् । सन्तानकामाय—सन्तान + कम् + णिङ्—अण्—वृद्धि—चतुर्थी—विभक्ति, एकवचन में । कामः—कम् + घञ् (अ) = वृद्धि । प्रतिश्रुत्य—प्रति + श्रु + क्त्वा + ल्यप् । मदीयम्—अस्मद् + छ—छ के स्थान पर 'ईय' होकर तथा अस्मद् के स्थान पर 'मत्' आदेश होकर—मदीयम् । दुग्ध्वा—दुह् + क्त्वा । उपभुङ्क्ष्व—उप + भुज् + लोट्—मध्यम पुरुष—एकवचन ।

समास—पयस्विनी—प्रशस्तं पयोऽस्याः अस्तीति पयस्विनी । सन्तान-

कामाय=सन्तानं कामयते इति सन्तानकामः तस्मै। **कामम्**=काम्यते इति कामो वरः तम् कामम्। **पत्रपुटे**=पत्राणां पुटः पत्रपुटः तस्मिन्। **मदीयम्**=मम इदं मदीयम्।

टिप्पणियाँ—**पयस्विनी**=दूध देने वाली (गाय)। **सा**=वह गाय=नन्दिनी। **संतानकामाय**=सन्तानप्राप्ति की कामना रखने वाले [राजा दिलीप के लिये]। यह 'राज्ञे' का विशेषण है। "सन्तानोऽपत्यगोत्रयोः सन्ततौ" इत्यनेकार्थसंग्रहः। **तथा इति**=ऐसा ही हो (एवमस्तु)। **कामम्**=वरदान (वरम्)। **प्रतिश्रुत्य**=प्रतिज्ञा करके (प्रतिज्ञाय)। कामम्=प्रतिश्रुत्य=वर देने की प्रतिज्ञा करके। **मदीयम्**=मेरा=मुझ गाय का। **पयः**=दूध। पत्रपुटे=पत्तों से निर्मित=दोनों में। **दुग्ध्वा**=दुहकर। **उपभुङ्क्ष्व**=पिओ, पी लो (पिब)।

प्रसङ्ग=नन्दिनी की दुग्धपान सम्बन्धी उपर्युक्त बात को सुनकर राजा ने नन्दिनी से निवेदन किया—

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
ऊधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥६६॥

अन्वयः=हे मातः! वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषं तव ऊधस्य रक्षितायाः उर्व्याः षष्ठांशं इव ऋषेः अनुज्ञां अधिगम्य उपभोक्तुं इच्छामि॥६६॥

संस्कृत व्याख्या—हे मातः!=हे जननि! वत्सस्य=तर्णकस्य, होमार्थविधेश्च=हवनरूपप्रयोजनविधानस्य च, शेषम्=अवशिष्टम्=वत्सपीतहोमयुक्तावशिष्टमित्यर्थः तव=भवत्याः ऊधस्यम्=दुग्धम्, रक्षितायाः=पालितायाः, उर्व्याः=पृथिव्याः, षष्ठांशम्=षण्णां पूरण षष्ठः स चासौ अंशः भागः तम् इव यथा, ऋषेः=मुनेः वसिष्ठस्य, अनुज्ञाम्=आज्ञां, अधिगम्य=प्राप्य, उपभोक्तुम्=उपभोगं कर्तुं पातुमित्यर्थः, इच्छामि=कामये [यदा नन्दिनी पुत्रप्राप्तये स्वदुग्धपानार्थं नृप दिलीपमादिदेश तदा नृपः तां कथयति=मातः! वत्सपीतादवशिष्टं अग्निहोत्रादवशिष्टं च तव दुग्धं मुनिवसिष्ठ-आज्ञां गृहीत्वा निजभुजबलपालितायाः पृथिव्याः षष्ठांशरूप करमिव पातुमिच्छामि इति भावः।

हिन्दी-व्याख्या—(हे मातः!) हे माता! (वत्सस्य) बछड़े के पीने से [बचा] (होमार्थविधेः च) अग्निहोत्रादि कार्यों के अनुष्ठान से (शेषम्) बचे

हुये (तव) तुम्हारे (ऊधस्यम्) दूध को (रक्षितायाः) अपने बाहुबल से पालित (उर्व्याः) पृथिवी के (षष्ठांशम् इव) छठे भाग के सदृश (ऋषेः) मुनि वसिष्ठ की (अनुज्ञाम्) आज्ञा को (अधिगम्य) प्राप्त करके (उपभोक्तुम्) पीने की (इच्छामि) इच्छा रखता हूँ— अर्थात् पीना चाहता हूँ ।

भावार्थ—नन्दिनी ने पुत्र प्राप्ति के निमित्त अपना दुग्ध पान करने के लिये जब राजा दिलीप से कहा तो इसके उत्तर में राजा दिलीप ने बड़ी नम्रता के साथ गाय-नन्दिनी से निवेदन किया कि हे माता ! बछड़े के पीने से बचे हुये तथा अग्निहोत्रादि क्रिया के विधान से अवशिष्ठ दुग्ध का ही पान मैं ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा से करना चाहता हूँ तथा मैं इस दुग्ध-पान को उसी रूप में करने का इच्छुक हूँ कि जिस रूप में मैं अपने द्वारा पालित पृथिवी के केवल छठवें हिस्से को कर के रूप में ग्रहण किया करता हूँ। राजा के कहने का तात्पर्य यह है कि मैं प्रत्येक वस्तु के छठे भाग को ही ग्रहण करने का अधिकारी हूँ—अतः मैं तुम्हारे दुग्ध का ही छठे भाग से अधिक पान करने का न तो अधिकारी ही हूँ और न अभिलाषी ही। साथ ही किसी का अधिकार बिना छिने हुये भी ! अतः मैं चाहता हूँ कि न तो बछड़े का अधिकार समाप्त हो न अग्निहोत्रादि क्रिया के विधान में ही किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो। इसके अतिरिक्त मुनि वसिष्ठ की ही आज्ञा से मैंने इस गो-सेवा व्रत को धारण किया था। अतः उन्हीं का आदेश पुनः प्राप्त कर मेरे लिये दुग्धपान करना अधिक उपयुक्त एवं लाभप्रद होगा।

व्याकरण—विधेः—वि + धा + कि (इ)—विधिः । ऊधस्यम्—ऊधस् + यत् । रक्षिता—रक्ष् + क्त (त) + इट् + टाप्—रक्षिता । उपभोक्तुम्—उप + भुज् + तुमन् (तुम्)—गुण—'ज्' को 'ग्' पुनः 'ग्' को 'क्' होकर उपभोक्तुम् । अधिगम्य—अधि + गम् + ल्यप् ।

समास—होमार्थविधेः—होम एवं अर्थः होमार्थः तस्य विधि होमार्थ-विधि तस्य । ऊधस्यम्—ऊधसि भवम् ऊधस्यम् तदेवोधस्यम् । षष्ठांशम्—षण्णां पूरणः षष्ठ, स चासौ अंशः—षष्ठांशतम् षष्ठांशतम् षष्ठांशम् ।

टिप्पणियाँ—वत्सस्य शेषम्—बछड़े के पीने से अवशिष्ट (बचा) हुआ । होमार्थविधेः—अग्निहोत्र आदि होम सम्बन्धी कार्यों के अनुष्ठान से (बचा)

हुआ)। ऊधस्यम्—दुग्ध, दूध—"ऊधस्तुक्लीबमापीनम्" इति। रक्षितायाः—अपने द्वारा रक्षित अथवा पालन की जाती हुयी। उर्व्याः—पृथिवी का। षष्ठांशम्—छठा भाग राजा का धर्म पृथिवी की रक्षा करना था इसी उपलक्ष में वह पृथिवि की उपज का छठा भाग लेने का अधिकारी था। राजा के कहने का तात्पर्य है कि जिस भाँति वह पृथिवी की उपज का छठा भाग ही प्राप्त करने का अधिकारी है, उसी प्रकार गाय नन्दिनी के बछड़े के पीने से तथा मुनि वसिष्ठ के अग्निहोत्रादि कार्यों से अवशिष्ट दुग्ध का ही पीने का यह अधिकार है। ऋषेः—मुनि वसिष्ठ की। अनुज्ञाम्—आज्ञा को। अधिगम्य—प्राप्त कर, पाकर। उपभोक्तुम्—उपभोग करने की—पीने को (पातुम्)। इच्छामि—इच्छा करता हूँ, चाहता हूँ।

विशेष—राजा यह भी जानता था कि यह गाय महर्षि वसिष्ठ की है तथा उन्हीं का इस पर अधिकार है। अतः इसके दुग्ध पर भी उन्हीं का स्वत्व है। अतः प्रसाद रूप में गाय—नन्दिनी के दुग्ध का पान वह तभी करेगा कि जब महर्षि वसिष्ठ इसके लिये उसको आज्ञा दे देंगे। यद्यपि गाय द्वारा उसे दुग्धपान करने की आज्ञा दी जा चुकी थी किन्तु फिर भी वह अपने कर्त्तव्य को भूला नहीं था। इससे राजा के पूर्णरूप से 'कर्त्तव्यनिष्ठ' होने का भान पाठक को हो जाता है।

प्रसङ्ग—राजा द्वारा दिये उपर्युक्त उत्तर को सुनकर गाय-नन्दिनी राजा से और भी अधिक प्रसन्न हयी तथा आश्रम की ओर लौटी—

इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवतात् कुक्षे प्रत्याययाबाश्रममश्रमेण ॥६७॥

अन्वयः—इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वशिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव। तदन्विता हैमवतात् कुक्षेः अश्रमेण आश्रमं प्रत्याययौ च ॥६७॥

संस्कृत-व्याख्या—इत्थम् = पूर्वोक्तरूपेण, क्षितीशेन = राजा दिलीपेन, विज्ञापिता = निवेदिता, वसिष्ठधेनुः = नन्दिनी, प्रीततरा = प्रसन्नतरा, बभूव = जाता, तदन्विता = तेन दिलीपेन अन्विता युक्ता [सा-नन्दिनी], हैमवतात् = हिमालयसम्बन्धित, कुक्षेः = गुहायाः, अश्रमेण = अनायासेन, आश्रमम् = स्ववासस्थानं = वसिष्ठाश्रमम्, प्रत्याययौ च = प्रत्यजगाम च = एवं राजा दिलीपेन प्रार्थिता वसिष्ठमुनेः गौः अतिशयेन-प्रसन्ना अभवत् हिमालयगुहाया निर्गत्य च सा स्वनिवासस्थानं वसिष्ठाश्रमं प्रत्याजगाम।]

हिन्दी व्याख्या—(इत्थम्) इस भाँति [पूर्वोक्त रूप से] (क्षितीशेन) राजा दिलीप के द्वारा (विज्ञापिता) निवेदन की जाती हुयी अथवा प्रार्थना की जाती हुयी (वसिष्ठ धेनुः) मुनि वसिष्ठ की गाय-नन्दिनी (प्रीततरा) अत्यधिक प्रसन्न (बभूव) हुयी। (तदन्विता) उस दिलीप से युक्त अथवा दिलीप के साथ [वह गाय-नन्दिनी] (हैमवतात्) हिमालय पर्वत की (कुक्षे) गुफा से (अश्रमेण) बिना परिश्रम के (थकावट का अनुभव किये बिना ही) (आश्रमम्) अपने निवास स्थान वसिष्ठ ऋषि के आश्रम को (प्रययायौ च) लौट आयी।

भावार्थ—पूर्वोक्त रूप से [मैं बछड़े के पीने तथा यज्ञ की विधि से अवशिष्ट दुग्ध को महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा से ही पीना चाहता हूँ।] राजा दिलीप द्वारा गाय नन्दिनी से प्रार्थना कर लिये जाने पर वह गाय अत्यधिक प्रसन्न हुयीं [क्योंकि राजा की उक्त प्रार्थना पूर्णतया धार्मिक तथा न्यायोचित थी।] तथा राजा दिलीप के साथ हिमालय की गुफा से निकलकर थकावट का अनुभव न करते हुये आश्रम को लौट आई।

व्याकरण—**विज्ञापिता**—वि + णिच् + क्त + टाप्। **इत्थम्**—इदम् + थमु (थम्) इदम् को 'इत्' आदेश-इत्थम्। **प्रीततरा**—प्री + क्त + तरप् + टाप्। **अन्विता**—अनु + इ + क्त + टाप्। **हैमवतात्**—हिमवत् + अण् ("तस्येदम्" सूत्र से) हैमवत्—पञ्चमी विभक्ति, एकवचन। **प्रत्याययौ**—प्रति + आ + या + लिट्—प्रथमपुरुष, एकवचन।

समास—**क्षितीशेन**—क्षितेः ईक्षः क्षितीशः (षष्ठी तत्पुरुष) तेन। **प्रीततरा**—अतिशयेन प्रीता—इति प्रीततरा। **तदन्विता**—तेन अन्विता इति। **हैमवतात्**—हिमोऽस्ति अस्मिन्निति हिमवान्, तस्ययं हैमवतः तस्मात्। **अश्रमेण**—न श्रमः इति अश्रमः तेन।

टिप्पणियाँ—**इत्थम्**—इस भाँति [पूर्वोक्त रूप से]। यह अव्यय है। **क्षितीशेन**—राजा (दिलीप) द्वारा। **विज्ञापिता**—निवेदन की जाती हुयी अथवा प्रार्थिता, **प्रीततरा**—अति प्रसन्न। राजा द्वारा कथित बातें वस्तुतः धर्मशास्त्र के अनुकूल तथा न्यायोचित थीं। अतः उनको सुनकर नन्दिनी और भी अधिक प्रसन्न हुयी। राजा द्वारा सिंह से अपने रक्षा किये जाने के कारण

वह पहले से ही बहुत प्रसन्न थी किन्तु राजा की उपर्युक्त बातों को सुनकर वह पहले की अपेक्षा और भी अधिक प्रसन्न हुयी। **तदन्विता**—उनके साथ अर्थात् राजा दिलीप के साथ। **कुक्षेः**—गुफा से, हिमालय की उस गुफा से। **अश्रमेण**—बिना परिश्रम अथवा थकावट के अर्थात् राजा द्वारा रक्षित एवं राजा द्वारा इस समय कथित बातों से वह गाय इतनी अधिक प्रसन्न थी। इस प्रसन्नता के कारण आश्रम तक वापिस जाते हुये उसने थकावट का अनुभव ही नहीं किया। **आश्रमम्**—आश्रम को। मुनि वसिष्ठ के आश्रम (अपने निवास स्थान) को। **प्रत्याययौ**—लौट आई। □

प्रसङ्ग—राजा ने नन्दिनी द्वारा वन में कथित वरदान सम्बन्धी बात को पहले ऋषि वसिष्ठ को तदनन्तर अपनी पत्नी सुदक्षिणा को सुनाया—

तस्या प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥६८॥

अन्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं पुनरुक्तयां एवं वाचा गुरवे निवेद्य (पश्चात्) प्रियायै शशंस ॥६८॥

संस्कृत-व्याख्या—प्रसन्नेन्दुमुखः=निर्मलचन्द्रवदनः, नृपाणाम्=राज्ञाम्, [मध्ये इति शेषः गुरुः=श्रेष्ठः राजा दिलीपः, प्रहर्षचिह्नानुमितम्=प्रहर्षस्य अति प्रसन्नतायाः चिह्नैः लक्षणैः अनुमितम् ऊहितम्, तस्याः=नन्दिन्याः, प्रसादम्=अनुग्रहम् (प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञाततया) पुनरुक्तया इव=भूयः कथितया इव, वाचा=वाण्या, गुरवे=वसिष्ठाय, निवेद्य=विज्ञाप्य, [पश्चात्] प्रियायै=स्वपत्न्यै सुदक्षिणायै, शशंस=कथयामास (अति प्रसन्नः राजा दिलीपः स्वमुखरागादिभिः प्रसन्नताद्योतकैः चिह्नैः उक्तप्रायं नन्दिन्या वरप्रदानरूपानुग्रहं पुनरुक्तमिव प्रथमं गुरवे वसिष्ठाय तदनन्तरं स्वपत्न्यै सुदक्षिणायै च निवेदयामास।]

हिन्दी-व्याख्या—(प्रसन्नेन्दुमुख) **निर्मल चन्द्रमा के सदृश कान्ति को धारण करने वाले** (नृपाणाम्) **राजाओं में** (गुरुः) **श्रेष्ठ राजा दिलीप ने** (प्रहर्षचिह्नानुमितम्) **अति प्रसन्नताद्योतक मुखरागादि लक्षणों द्वारा मुनि वसिष्ठ द्वारा नन्दिनी द्वारा दिये गये वरदान के बारे में अनुमान लगा लिये जाने पर भी** (तस्याः) **उस नन्दिनी की** (प्रसादम्) **कृपा को** (पुनरुक्तया इव) **दोबारा कहे**

गये हुये के समान (वाचा) अपनी वाणी से (गुरवे) गुरु वसिष्ठ के लिये (निवेद्य) निवेदन करके (प्रियायै) [तत्पश्चात्] अपनी पत्नी सुदक्षिणा के लिये (शशंस) (भी) कहा।

भावार्थ—वन से राजा तथा नन्दिनी के वापिस लौट आने पर गुरु वसिष्ठ ने राजा के अति प्रसन्नता सम्बन्धी मुखरागादि लक्षणों को देखकर नन्दिनी द्वारा राजा को दिये वरदान के बारे में समझ लिया था किन्तु फिर भी राजा ने नन्दिनी द्वारा की गयी उस कृपा के बारे में गुरु वसिष्ठ को बतलाया। अतः ऐसा प्रतीत होता था कि मानों राजा द्वारा उस अनुग्रह की पुनरुक्ति ही की गयी हो। गुरु से कहने के पश्चात् राजा ने उसी बात को अपनी पत्नी सुदक्षिणा से भी कहा।

अलङ्कार—इस श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है। यद्यपि राजा ने नन्दिनी द्वारा उस पर किये गये अनुग्रह के बारे में वसिष्ठ को प्रथम बार ही बतलाया था किन्तु फिर भी उनकी प्रसन्नता के आधार पर वसिष्ठ द्वारा पूर्वानुमित होने के कारण ऐसा प्रतीत होत था कि मानों वसिष्ठ द्वारा उस अनुग्रह को पहले ही जान लेने पर राजा द्वारा उसी बात को पुनः कहा जा रहा हो।

व्याकरण—**प्रसन्न**—प्र + सद् + क्त (त—प्रत्यय के 'त' तथा धातु के 'द्' को न' आदेश होकर—प्रसन्न। **नृप**—नृ + पा + क (अ) नृपः। **प्रहर्षः**—प्र + हृष् + घञ् (अ)—गुण-प्रहर्षः। **अनुमितम्**—अनु + मा + क्त—धातु के 'आ' को 'इ'। **प्रसादः**—प्र + सद् + घञ् (अ)—वृद्धि। **उक्त्या**—वच् + क्त धातु के 'व' को सम्प्रसारण 'उ' तथा 'च' के स्थान पर 'क' होकर + टाप्—तृतीया विभक्ति के एकवचन में। **निवेद्य**—नि + विद् + णिच् + ल्यप्। **प्रियायै**—प्री + क (आ)—धातु की 'ई' को 'इयङ् + टाप् (आ) चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में **शशंस**—शस् = लिट्।

समास—प्रसन्नेन्दुमुखः = प्रसन्नश्चासौ इन्दुश्चेति प्रसन्नेन्दुः, प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य सः प्रसन्नेन्दुमुखः (बहुव्रीहिः)। **प्रहर्षचिह्नानुमितम्**—प्रकृष्टा हर्षाः प्रहर्षाः तेषां चिह्नानि तैः अनुमितः प्रहर्षचिह्नानुमितः तम्।

टिप्पणियाँ—**प्रसन्नेन्दुमुखः**—निर्मल (स्वच्छ) चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुख वाले। **नृपाणां गुरुः**—राजाओं के गुरु अथवा स्वामी, राजाओं में श्रेष्ठ।

प्रहर्षचिह्नानुमितम्—प्रसन्नता के द्योतक-मुख की लालिमा, मुस्कान आदि लक्षणों से जिसका अनुमान कर लिया गया था। गुरु-वसिष्ठ ने राजा दिलीप के मुख को देखकर ही समझ लिया था कि आज इन पर गाय-नन्दिनी की कृपा अवश्य हुई है। **तस्याः**—उस [नन्दिनी] की। **प्रसादम्**—वर-प्रदान सम्बन्धी कृपा (अनुग्रह) अथवा वर देने रूपी कृपा। राजा ने उस गाय नन्दिनी द्वारा वरदान दिये जाने सम्बन्धी बात को गुरु वसिष्ठ से कहा। इससे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों राजा ने उस बात को दोहराया हो। **पुनरुक्तया इव**—दोहराये गये हुये के सदृश। **वाचा**—वाणी के द्वारा, वाणी से। **गुरवे**—गुरु के लिये, गुरु से। **निवेद्य**—निवेदन करके, कहकर। **प्रियायै**—[अपनी] पत्नी [सुदक्षिणा] के लिये अथवा से। **शशंस**—कहा।

प्रसङ्ग—महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त कर राजा दिलीप ने नन्दिनी का दूध पिया—

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशोमूर्त्तमिवातितृष्णः ॥६९॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सद्वत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः स वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं शुभ्रं मूर्त्तं यशः इव अतितृष्णः सन् पपौ ॥६९॥

संस्कृत-व्याख्या—अनिन्दितात्मा = न निन्दितः अनिन्दितः अगर्हित आत्मा स्वभावः यस्य सः, अनिन्दितात्मा = अजुगुप्सितस्वभावः, सद्वत्सलः = सत्सु सज्जनेषु वत्सलः। प्रेमवान्-सद्वत्सल = साधुस्निग्धः, वसिष्ठेन = महर्षिणा वसिष्ठेन, कृताभ्यनुज्ञः = कृता प्रदत्ता अभ्यनुज्ञा अनुमतिः यस्मै स कृताभ्यनुज्ञः = आज्ञप्तः इति भावः, सः = राजा दिलीपः, वत्सहुतावशेषम् = वत्सपीतहुतपरिशिष्टम्, नन्दिनीस्तन्यम् = नन्दिनीदुग्धम्, शुभ्रम् = निर्मलम्, मूर्त्तम् = मूर्तिमत्, यशः = कीर्तिम् इव, अतितृष्णः = अतिशयपिपासितः, 'सन्', पपौ = अपिबत् [प्रशंसितस्वभावः, साधुप्रियः राजा दिलीपः गुरोः वसिष्ठस्याज्ञां प्राप्य वत्सपीतस्य हवनस्य चावशिष्टं धेनोः नन्दिन्याः दुग्धं मूर्तिमत् उज्ज्वलं यश इव सतृष्णः सन् पपाविति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(अनिन्दितात्मा) प्रशंसनीय स्वभाव वाले (सद्वत्सलः) सज्जन से स्नेह करने वाले (वसिष्ठेन) महर्षि वसिष्ठ द्वारा (कृताभ्यनुज्ञः)

अनुमति प्राप्त किये हुये (सः) उस राजा दिलीप ने (वत्सहुतावशेषम्) बछड़े के पीने तथा अग्निहोत्र से बचे हुये (नन्दिनीस्तन्यम्) गाय-नन्दिनी के दूध को (शुभ्रम्) उज्ज्वल (मूर्त्तम्) मूर्तिधारिणा (यशः इव) कीर्ति के सदृश (अतितृष्णः) अत्यधिक रूप से प्यासे व्यक्ति के रूप में (पपौ) पिया।

भावार्थ—उत्तम स्वभाव से सम्पन्न तथा सज्जन व्यक्तियों से प्रेम करने वाले राजा दिलीप ने मुनि वसिष्ठ की आज्ञा को प्राप्त कर श्वेत वर्ण के (सफेद रंग के) नन्दिनी के दूध को अत्यन्त प्यासे व्यक्ति के सदृश उसी रूप में पिया—मानों वे अपने निर्मल एवं मूर्तिधारी यश का ही पान कर रहे हों। यश अथवा कीर्ति का वर्ण श्वेत माना गया है। दूध भी श्वेत वर्ण का था। अतएव ऐसा प्रतीत होता था कि मानों राजा का निर्मल मूर्तिमान यश ही दूध के रूप में विद्यमान हो और राजा उसी का पान कर रहा हो।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' नामक अलङ्कार है।

व्याकरण—अनिन्दितः—निन्द् + क्त (त) + इट् (इ) = निन्दित–नञ् (अ) + निन्दितः = अनिन्दितः। वत्सलः–वत्स + लच् (ल) = वत्सलः। **कृता**—कृ + क्त (त) + टाप्। **अभ्यनुज्ञा**—अभि + अनु + ज्ञा + अङ् (अ) = 'आ' लोप + टाप् (अ) = अभ्यनुज्ञा। **अवशेषः**—अव + शिष् + अञ् (अ) गुण होकर अवशेषः। **स्तन्यम्**—स्तन + यत्—'अ' लोप होकर—स्तन्यम्।

समास—**अनिन्दितात्मा**—न निन्दितः इति अनिन्दितः, अनिन्दितः आत्मा यस्यः सः (बहुव्रीहि समास)। **सद्वत्सलः**—सत्सु वत्सलः इति सद्वत्सलः। **कृताभ्यनुज्ञः**—कृता अभ्यनुज्ञा यस्मै सः। **अतितृष्णः**—अतितृष्णा यस्य सः (बहुव्रीहि समास)। **वत्सहुतावशेषम्**—वत्सश्च हुतञ्चेति वत्सहुते तयोः अवशेषः तम् वत्सहुतावशेषम्। **नन्दिनीस्तन्यम्**—स्तने भवम् स्तन्यम् नन्दिन्याः स्तन्यं नन्दिनीस्तन्यम्।

टिप्पणियाँ—**अनिन्दितात्मा**—अनिन्दनीय स्वभाव वाला, प्रशंसनीय स्वभाव से युक्त। **सद्वत्सलः**—सज्जन-पुरुषों से स्नेह रखने वाला सज्जन प्रेमी। **कृताभ्यनुज्ञः**—जिसको आज्ञा प्राप्त हो गई है। [नन्दिनी] के दूध को पान करने की आज्ञा जिसे अपने गुरु वसिष्ठ से प्राप्त हो गई ऐसा राजा दिलीप। **वत्सहुतावशेषम्**—बछड़े के पीने से तथा अग्निहोत्र (हवन) से बचा हुआ [दूध]—यह

'नन्दिनीस्तन्यम्' का विशेषण है। नन्दिनीस्तन्यम्—नन्दिनी के दूध को। शुभ्रम्—निर्मल, उज्ज्वल, श्वेत। मूर्त्तम्—मूर्तिधारी, मूर्तिमान्। यशः इव—कीर्ति के सदृश। अतितृष्णः—अत्यधिक प्यासे व्यक्ति के सदृश। पपौ—पान किया, पिया। राजा ने नन्दिनी नामक उस गाय के दूध को अत्यन्त प्यासे व्यक्ति के सदृश पिया अर्थात् अत्यधिक प्रेम एवं श्रद्धा के साथ उस दूध को अपने शरीर के अन्दर धारण किया।

प्रसङ्ग—अब राजा द्वारा धारण किया गया हुआ गो-सेवा-व्रत पूर्ण हो चुका था। अतः मुनि वसिष्ठ ने राजा तथा रानी को अपनी राजधानी के लिये वापिस कर दिया—

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥७०॥

अन्वयः—वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास ॥७०॥

संस्कृत-व्याख्या—वशी = जितेन्द्रियः, वसिष्ठः तदाख्यमहर्षिः, प्रातः = प्रातःकाले, यथोक्तव्रतपारणान्ते = यथोक्तस्य शास्त्रोक्तविध्यनुकूलस्यव्रतस्य गो-सेवारूपस्य व्रतस्य या पारणा व्रतान्तभोजनं तस्या अन्ते समाप्तौ, प्रास्थानिकम् = प्रस्थानकालोचितम्, स्वस्त्ययनम् = शुभावहमाशीर्वादम्, प्रयुज्य = दत्वा, तौ = सुदक्षिणादिलीपौ, दम्पती = जायापती, स्वाम् = आत्मीयाम् राजधानीम् अयोध्याम् प्रति, प्रस्थापयामास = प्रेषयामास धेनोः नन्दिन्याः दुग्धपानानन्तरं द्वितीय-दिवसे प्रभाते यदा शास्त्रोक्तविधिना सम्पादिता गोसेवारूपव्रतपारणा समाप्ता संजाता तदा मुनिना वसिष्ठेन प्रस्थानकालिकं मंगलं विधाय सुदक्षिणा-दिलीपौ स्वकीयां राजधानीमयोध्यां प्रति प्रेषितौ—इति भावः।'

हिन्दी-व्याख्या—(वशी) जितेन्द्रिय (वसिष्ठः) मुनि वसिष्ठ ने (प्रातः) प्रातःकाल (यथोक्तव्रतपारणान्ते) विधिवत् किये गये गो सेवारूप व्रत के अंगभूत व्रतान्त भोजनादि के कर लिये जाने के पश्चात् (प्रास्थानिकम्) प्रस्थानकालो-चित (स्वस्त्ययनम्) शुभ-आशीर्वाद (प्रयुज्य) देकर (तौ दम्पती) उन पति पत्नी सुदक्षिणा और दिलीप को (स्वाम्) अपनी (राजधानीं प्रति) राजधानी के लिये (प्रस्थापयामास) भेज दिया।

भावार्थ—राजा ने जब शास्त्रोक्त विधि के अनुसार किये गये गो-सेवा रूप व्रत के अंगभूत व्रत के अन्त में किये जाने वाले भोजनादि को कर लिया तब संयमी मुनि वसिष्ठ ने सुदक्षिणा सहित राजा दिलीप को प्रस्थान करते समय तत्कालोचित आशीर्वाद दिया तथा उनके मंगल-भविष्य की कामना की। इसके अनन्तर मुनि ने उन दोनों को उनकी राजधानी अयोध्या जाने के लिये विदा कर दिया (भेज दिया)।

व्याकरण—**वशी**—वश + इनि (इन्)। **प्रास्थानिकम्**—प्रस्थान + ठञ्। "कालाट्ठञ्" सूत्र से ठञ् तथा "ठस्येकः" सूत्र से 'ठ' के स्थान पर 'इक' होकर, आदि स्वर 'अ' को वृद्धि होकर, प्रास्थानिक। **स्वस्त्ययनम्**—स्वस्ति + अयनम्-इण् + ल्युट (अन्-आदेश) गुण तथा 'अय्' आदेश होने के पश्चात्-अयनम्। **प्रयुज्य**—प्र + युज् + ल्यप्। **राजधानीम्**—राजन् + धा + ल्युट् + अन्—आदेश होकर—ङीप् (ई)—न लोप—राजधानी।

समास—**वशी**—वश इन्द्रियोपरि प्रभुत्वमस्यास्यीति वशी। **यथोक्तव्रतपारणान्ते**—उक्तमनतिक्रम्येति यथोक्तम् (अव्ययीभाव समास), यथोक्तं व्रतं इति यथोक्तव्रतम् (कर्मधारय), यथोक्तव्रतस्य पारणा यथोक्तव्रतपारणा, तस्याः अन्तो यथोक्तव्रतपारणान्तः तस्मिन्। **प्रास्थानिकम्**—प्रस्थाने भवम् इति प्रास्थानिकम्। **स्वस्त्ययनम्**—ईयते प्राप्यते अनेन इति अयनम्। स्वस्ति अयनम् इति स्वस्त्ययनम्। **दम्पती**—जाया च पतिः च दम्पती। (द्वन्द्व समास)। **राजधानीम्**—धीयन्तेऽस्यामिति धानी, राज्ञां धानी राजधानी ताम्।

टिप्पणियाँ—**वशी**—जिसकी इन्द्रियाँ उसके अधीन हों अथवा वश में हों—अर्थात् जितेन्द्रिय—संयमी। **प्रातः**—प्रातःकाल के समय। **यथोक्तव्रतपारणान्ते**—पूर्ववर्णित शास्त्रोक्त विधि द्वारा सम्पादित गो सेवा रूप व्रत की समाप्ति पर की जाने वाली पारणा (व्रतान्त भोजन) के पश्चात्। **प्रास्थानिकम्**—प्रस्थानकालोचित। प्रस्थान करते समय जिसका किया जाना आवश्यक रूप में उचित हुआ करता है ऐसे। **स्वस्त्ययनम्**—शुभसूचक, मंगलपूर्ण आशीर्वाद। **प्रयुज्य**—प्रयोग करके—देकर। **तौ दम्पती**—उन दोनों पति-पत्नी को अर्थात् सुदक्षिणा और दिलीप को, राजा रानी को। "दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ" इत्यमरः। **राजधानीं प्रति**—राजधानी के लिये—अयोध्या नाम की

राजा दिलीप की राजधानी के लिये । प्रस्थापयामास—प्रेषित कर दिया । भेज दिया—विदा किया ।

विशेष—प्रियजनों को विदा करते समय उनके वियोग से उत्पन्न कष्ट को सहन करने की क्षमता उन्हीं लोगों में हुआ करती है कि जिनके मन और इन्द्रियाँ उनके अधीन हुआ करते हैं । मुनि वसिष्ठ इसी प्रकार के थे—इसी कारण उन्हें 'वशी' कहा गया । राजा दिलीप उनके प्रिय शिष्य थे । अतः उनके जाते समय मुनि ने उनके वियोगजनित कष्ट को सहन किया । □

प्रसङ्ग—अपने गुरु आदि सभी का उचित अभिवादन करने के पश्चात् राजा ने आश्रम से प्रस्थान किया—

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्त्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥७१॥

अन्वयः—नृपः हुत हुताशं, भर्त्तुः अनन्तरं अरुन्धन्तीं, च, सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः 'सन्' प्रतस्थे ॥७१॥

संस्कृत-व्याख्या—नृपः = राजा दिलीपः । हुतम् = प्राप्तहविषम्, हुताशम् = अग्निम् भर्त्तुः = पत्युः वसिष्ठस्येत्यर्थः, अनन्तरम् = पश्चात्, अरुन्धतीम् = वसिष्ठभार्याम्, च सवत्साम् = वत्सेन सहिताम्, धेनुम् = गां—नन्दिनीम्, प्रदक्षिणीकृत्य = परिक्रम्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः = सन्ति च तानि मङ्गलानि इति सन्मङ्गलानि शुभमङ्गलमयकार्याणि तैः उदग्रतरः उच्चतरः प्रभावः प्रतापः सामर्थ्यं वा यस्य तादृशः 'सन्', प्रतस्थे = (वसिष्ठाश्रमात् स्वराजधानीं प्रति) प्रस्थानं कृतवान् [माङ्गलिकाशीर्वादानन्तरं वसिष्ठेनानुमतः राजा दिलीपः सन्तर्पितमग्निं, गुरुवसिष्ठं, तत्पत्नीं देवीं अरुन्धतीं, वत्सयुक्तां गां नन्दिनीं च परिक्रम्य वसिष्ठाश्रमात् स्वकीयां अयोध्यानाम्नीं राजधानीं प्रति जगाम—इति भावः] ।

हिन्दी-व्याख्या—(नृपः) राजा दिलीप ने (हुतम्) आहुति दी जा चुकी हुयी (हुताशम्) अग्नि को, (भर्त्तुः) पति वसिष्ठ को (अनन्तरम्) उसके पश्चात् (अरुन्धतीम्) मुनि वसिष्ठ की पत्नी को, (च) और (सवत्साम) बछड़े सहित (धेनुम्) गाय नन्दिनी को (प्रदक्षिणीकृत्य) प्रदक्षिणा करके (सन्मङ्गलोदग्रतर-प्रभावः) अच्छे मङ्गलकारी, बढ़े हुये प्रभाव से सम्पन्न (सन्) होकर (प्रतस्थे) प्रस्थान किया ।

भावार्थ—महर्षि वसिष्ठ से आशीर्वाद प्राप्त करने के पश्चात् राजा दिलीप ने सर्वप्रथम आहुति दी जा चुकी हुयी यज्ञ की अग्नि की प्रदक्षिणा की। फिर वसिष्ठ की और तदनन्तर उनकी पत्नी अरुन्धती की प्रदक्षिणा करके बछड़े सहित गाय-नन्दिनी की प्रदक्षिणा [राजा ने] की। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी राजधानी के लिये प्रस्थान किया। प्रस्थान करते समय मुनि वसिष्ठ द्वारा प्रास्थानिक मङ्गलाचरण किये गये। इन मङ्गलाचरण से राजा का प्रताप और प्रभाव और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गया था।

व्याकरण—नृप—नृ + पा + क (अ)—आ का लोप–नृपः। हुतम् हु + क्त (त)। हुताशम्—हुत + अश् + अण् (अ)। भर्तुः—भृ + तृच् (तृ)-भर्तृ—षष्ठी एकवचन में—भर्तुः। प्रदक्षिणीकृत्य—प्रदक्षिण + च्वि, ईत्व + कृ + ल्यप्। प्रभाव—प्र + भू + घञ्।

समास—नृपः—नॄन् पातीति नृपः। हुताशम्—हुतं अश्नाति इति हुताशः (अग्निः) तम्। अनन्तरम्—अविद्यमानं अन्तरं यत्र तत् अनन्तरम् (नञ्, बहुव्रीहि समास)। भर्तुः—बिभर्ति इति भर्ता तस्य। प्रदक्षिणीकृत्य—प्रगतः दक्षिणम् प्रदक्षिणम्, न प्रदक्षिणम् अप्रदक्षिणम्, अप्रदक्षिणं प्रदिक्षणं कृत्वा इति प्रदक्षिणीकृत्य। सवत्साम्—वत्सेन सह—सवत्सा, ताम्। सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः—सन्ति च तानि मङ्गलानि सन्मङ्गलानि (कर्मधारय), अतिशयेन उदग्रः इति उदग्रतरः, सन्मङ्गलैः उदग्रतरः प्रभावः यस्य सः सन्मङ्गलोदग्रतरभावः (बहुव्रीहि समास)।

टिप्पणियाँ—हुतम्—जिसमें हवन किया जा चुका है अथवा जिसमें सामग्री आदि हवनीय द्रव्यों की आहुति दी जा चुकी है ऐसी अग्नि। यह 'हुताशम्' का विशेषण है। हुताशम—आहुति दिये गये द्रव्यों को खाने वाली अर्थात् अग्नि की। भर्तुः—[अरुन्धती के] पति [महर्षि वसिष्ठ] की अनन्तरम्—पश्चात्, बाद अर्थात् मुनि वसिष्ठ की प्रदक्षिणा करने के पश्चात्। सवत्साम्—बछड़े सहित। धेनुम्—गाय नन्दिनी की—अर्थात् बछड़े से युक्त गाय नन्दिनी की भी प्रदक्षिणा करके। प्रदक्षिणीकृत्य—प्रदक्षिणा करके। सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः—अच्छे मङ्गलों से जिसका प्रभाव और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो

चुका है। राजा के चलते समय महर्षि वसिष्ठ द्वारा जो प्रास्थानिक माङ्गलिक कार्य किये गये थे, उनसे राजा का प्रभाव और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त हो गया था। प्रतस्थे—प्रस्थान किया।

प्रसङ्ग—मार्ग में रानी सुदक्षिणा सहित राजा दिलीप चले जा रहे हैं—

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनैव पूर्णेन मनोरथेन ॥७२॥

अन्वयः—धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः स श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्घातसुखेन रथेन स्वेन पूर्णेन मनोरथेन इव मार्गं ययौ ॥७२॥

संस्कृत-व्याख्या—धर्मपत्नीसहितः धर्मपत्न्या सुदक्षिणा सहितः युक्तः, सहिष्णुः=सहनशीलः, स=राजा दिलीपः, श्रोत्राभिरामध्वनिना=श्रोत्रयोः कर्णयोः अभिरामः आनन्दप्रदः ध्वनिः शब्दः यस्य तेन, अनुदघातसुखेन=प्रतिघातरहितत्वात्सुखदायकेन, रथेन=स्यन्दनेन, स्वेन=स्वकीयेन, पूर्णेन=सफलेन, मनोरथेन=अभिलाषेण, इव=यथा, मार्गम्=पन्थानम्, ययौ=जगाम [व्रतादिक्लेशसहिष्णुः राजा दिलीपः स्वधर्मपत्न्या सुदक्षिणया सह सुखदायकेन स्वकीयेन रथेन सफलमनोरथेन इव मार्गमलंघयत्=इति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(धर्मपत्नीसहितः) अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा सहित (सहिष्णुः) सहनशील (सः) राजा दिलीप (श्रोत्राभिरामध्वनिना) कानों को सुख देने वाली ध्वनी से युक्त (अनुद्घातसुखेन) नीचे ऊँचें पत्थरों के आघात से रहित अतएव सुखदायक (रथेन) रथ के द्वारा (स्वेन) अपने (पूर्णेन) सफल हुये (मनोरथेन इव) मनोरथ के सदृश (मार्गम्) रास्ते पर (ययौ) गये।

भावार्थ—व्रतादि कष्टों को सहन करने में सशक्त राजा दिलीप अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ ऐसे रथ पर सवार होकर अपनी राजधानी जाने वाले मार्ग पर चले जिसकी गमन-ध्वनि कानों को आनन्द देने वाली थी तथा धक्का न लगने के कारण जो अत्यन्त सुखदायक था। ऐसे सुखप्रद रथ पर आरूढ़ होकर गमन करते हुये राजा दिलीप ऐसे प्रतीत हो रहे थे कि मानों वे अपने सफल हुये मनोरथ पर ही चढ़कर अपनी राजधानी की ओर वापिस चले जा रहे हों।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

व्याकरण—सहिष्णु—सह—इष्णुच्। अभिराम—अभि+रम्+घञ् (अ) वृद्धि 'अभिरामः'।

समास—धर्मपत्नीसहितः—धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी तया सहितः धर्मपत्नी सहितः। **सहिष्णु**—सोढं शीलमस्येति सहिष्णु। **श्रोत्राभिरामध्वनिना**—श्रोत्रयोः अभिरामः श्रोत्राभिरामः, श्रोत्राभिरामः ध्वनिः यस्य सः (बहुव्रीहि समास) तेन। **अनुद्घातसुखेन**—न विद्यते उद्घातः यस्मिन् स अनुद्घातः, सुखयतीति सुखः, अनुद्घातेन सुखः इति अनुद्घातसुखः (कर्मधारय) तेन। **मनोरथेन**—मन एव रथः इति मनोरथः तेन।

टिप्पणियाँ—धर्मपत्नीसहितः—अपनी पत्नी (सुदक्षिणा) के साथ अथवा सुदक्षिणा सहित। **सहिष्णुः**—सहनशील, सहन करने वाला—व्रतादि के कष्टों को सहन करने में समर्थ। **श्रोत्राभिरामध्वनिना**—कानों को सुख देने वाले शब्द से युक्त। यह 'रथेन' तथा 'मनोरथेन' दोनों ही का विशेषण है। कान को, श्रवण सुखद—कान को अच्छी लगने वाली। **रथपक्ष में**—कानों को अच्छी लगने वाली है ध्वनि जिसकी। **मनोरथ पक्ष में**—जब अपने मनोरथ (मन्तव्य) के सफल होने सम्बन्धी बात को कानों से सुना तो वह अत्यधिक आनन्ददायक ज्ञात हुयी। **अनुद्घातसुखेन**—ठोकरें न लगने के कारण सुखप्रद। यह भी 'रथ' तथा 'मनोरथ' दोनों का ही विशेषण है। मार्ग में पत्थर आदि की ठोकरों से रहित होने के कारण जो रथ सुखप्रद प्रतीत होता था। मनोरथ पक्ष में—जो प्रतिबन्धों से रहित होने के कारण आनन्दप्रद था। सन्तानोत्पत्ति रूपी मनोरथ के पूर्ण होने में जो विघ्न था, उसके दूर हो जाने के कारण अब वह मनोरथ भी आनन्ददायक हो गया था। **स्वेनपूर्णेन मनोरथेन**—अपने पूर्ण (सफल) हुये। मनोरथ रूपी रथ पर सवार होकर राजा अपनी राजधानी अयोध्या को गया, राजा का मनोरथ अब पूर्णरूपेण सफल हो चुका था। अतः उसे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मानों वह अपने सफल मनोरथ पर ही चढ़कर चला जा रहा हो।

प्रसङ्ग—अयोध्या-निवासी प्रजा-जन राजा के दर्शनों के लिये पहले से ही उत्सुक थे। अतएव उन्होंने राजा को बड़े आनन्द, हर्ष और उल्लास के साथ देखा—

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥७३॥

अन्वयः—अदर्शनेन आहितौत्सुक्यं प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गं नवोदयं तं प्रजाः नवोदयं ओषधीनां नाथं इव तृप्तिं आनाप्नुवद्भिः नेत्रैः पपुः ॥७३॥

संस्कृत व्याख्या—अदर्शनेन = अनवलोकनेन = प्रवासनिमित्तानवलोकनेन, चन्द्रपक्षे = कलाक्षयजन्येनानवलोकनेन, आहितौत्सुक्यम् = आहितं जनितं औत्सुक्यं औत्कण्ठ्यं येन तम् = उभयपक्षेऽपि समानम्, प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् = प्रजार्थं सन्तानार्थं यद् व्रतं गो सेवा रूप तेन कर्शितम् कृशताङ्गतं अङ्गं शरीरं यस्य तम्, चन्द्रपक्षे = प्रजार्थं लोकहितार्थं यद् व्रतं देवसम्बन्धिकलादानरूपनियमं [यथोच्यते—"तं सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः"] तेन कर्शितं कृशीकृतं अंगं गात्ररूप मण्डलं यस्य तम्, नवोदयम् नयः नवीनः उदयः सन्तानार्थवरोपलब्धिरूपाभ्युदयः तस्य तम्, चन्द्रपक्षे = नवीनाविर्भावम् [द्वितीयायां तिथौ उदयंतम् = इत्यभिप्रायः] तम् = राजानम्, प्रजाः = जना, नवोदयम् = नवोदितम्, ओषधीनाम् = फलपाकान्तव्रीहियवादीनाम् नाथम् = स्वामिनं चन्द्रम्, इव = यथा, तृप्तिम् = पूर्णसन्तोषम्, अनाप्नुवद्भिः = अनधिगच्छद्भिः, नेत्रैः = नयनैः, पपुः = अपिबन् = सतृष्णं ददृशुरित्यभिप्रायः [राजा दिलीपः सन्तानप्राप्त्यर्थगौसेवारूपव्रताचरणाय बहूनी दिनानि यावत् वसिष्ठाश्रमे न्यवसत् येन तस्य दिलीपस्य शरीरं दुर्बलं संजातम् । किन्तु यत्रैव सः पुत्रप्राप्त्यर्थ वरमपि लब्धवान् अयोध्यायां तस्य दर्शनार्थं जना अत्युत्सुका आसन् । अतएव यदा राजा अयोध्यां प्रतिनिवृत्तः तदा प्रजाजना तं राजानं अतृप्तैः नेत्रैः तथैव अवलोकयामासुः यथा द्वितीयायां तिथौ नवोदितं चन्द्रमस जनाः सतृष्णैः नेत्रैः अवलोकयन्तीति भावः ।)

हिन्दी-व्याख्या—(अदर्शनेन) मुनि वसिष्ठ के आश्रम से बहुत समय तक गो-सेवा में रत रहने के कारण जिसका दर्शन प्रजाजनों को अधिक दिनों से नहीं हो सका था ऐसे राजा के अदर्शन के (आहितौत्सुक्यम्) देखने की उत्सुकता को उत्पन्न करने वाले (प्रजार्थव्रतकर्शितांगम्) सन्तान-प्राप्ति हेतु गौ सेवारूप व्रत का आचरण करने के कारण दुर्बल शरीर वाले (नवोदयम्) नवीन अभ्युदय को प्राप्त करने वाले (तम्) उस राजा दिलीप को (प्रजा) प्रजाजनों ने (नवोदयं ओषधीनां नाथम् इव) नवोदित [ओषधियों के पति] चन्द्रमा के सदृश (तृप्तिम्) पूर्ण सन्तोष को (अनाप्नुवद्भिः) न प्राप्त करते हुये (नेत्रैः) नेत्रों से (पपुः) पिया अर्थात् तृष्णा भरे नेत्रों से देखा अर्थात् (अदर्शनेन आहितौत्सुक्यम्) कृष्ण पक्ष में कलाओं का क्षय हो जाने के कारण चन्द्रमा का दर्शन नहीं किया जाया करता है । अतः बहुत दिनों से चन्द्रमा के अदर्शन

के कारण देखने की उत्कण्ठा लोगों के हृदयों में उत्पन्न करने वाले (प्रजार्थव्रतकर्शितांगम्) लोकहित के लिये देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी नियम से कृशमण्डल वाले (नवोदयम्) नवीन रूप में उदित (तम्) उस चन्द्रमा को (प्रजाः) (जिस भाँति) प्रजाजन (तृप्तिम् अनाप्नुवद्भिः) पूर्ण सन्तोष को न प्राप्त करने वाले (नेत्रैः) नेत्रों से (पपुः) पिया करते हैं अथवा देखा करते हैं उसी भाँति अयोध्या के लोगों ने राजा दिलीप को भी तृष्णा भरे नेत्रों से देखा।

भावार्थ—पर्याप्त दिनों में अपनी पत्नी सुदक्षिणा समेत राजा दिलीप पुत्र प्राप्ति के निमित्त वसिष्ठाश्रम में रहते हुये गोसेवा रूप में व्रत के आचरण में संलग्न थे। इस कारण उनका शरीर भी दुर्बलता को प्राप्त हो गया था। किन्तु इतना अवश्य था कि उनके इस व्रताचरण के फलस्वरूप उन्होंने नवीन पुत्र प्राप्ति रूप कल्याण की भी प्राप्ति कर ली थी। ऐसे राजा को देखने के लिये अयोध्या की प्रजा अत्यधिक उत्कण्ठित थी। अतः जब राजा वसिष्ठ के आश्रम से लौटकर अयोध्या आये तो उस समय लोगों ने तृष्णा भरे नेत्रों से राजा को उसी प्रकार देखा कि जिस भाँति नवोदित द्वितीया के चन्द्रमा को लोग तृष्णा भरे नेत्रों से देखा करते हैं।

अलङ्कार—यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है। यहाँ उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं। वहाँ राजा दिलीप 'उपमेय' 'चन्द्र' 'उपमान' 'इव' उपमावाचक शब्द तथा 'अदर्शनेन आहितौत्सुक्यम्,' 'नवोदयम्' आदि साधारण धर्म है कि जो दोनों ही में विद्यमान है)

व्याकरण—आहित—आ + धा + क्त (त)—धातु को हि आदेश। औत्सुक्य—उत्सुक + ष्यञ (य) आदि स्वर को वृद्धि 'औ' तथा 'क' के 'अ' का लोप—औत्सुक्य। अदर्शन—दृश् + ल्युट्—(अन) दर्शन—नञ् + दर्शन—अदर्शन। प्रजा—प्र + जन् + उ (अ) टि लोप + टाप् (आ)—प्रजा। तृप्तिम्—तृप् + क्तिन्। आप्नुवद्भिः—आप् + शतृ (अत्)—श्नुविकरण—'नु' के 'उ' को उवङ् (उव)—तृतीया बहुवचन में। पपौः—पा + लिट्—प्रथमपुरुष—एकवचन में।

समास—अदर्शनेन—न दर्शनम् अदर्शनम् तेन। आहितौत्सुक्यम्—उत्सुकस्य भावः कर्म वा औत्सुक्यम्, आहितं औत्सुक्यं येन स आहितौत्सुक्यः

म् । **प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्**—प्रजा एव अर्थः प्रयोजनं यस्य तत् प्रजार्थम् जार्थं च तद् व्रतं प्रजार्थव्रतं, तेन कर्शित=प्रजार्थव्रतकर्शितम्, प्रजार्थव्रतकर्शितं अंगं (शरीरम्) यस्य स तम् स तम् । **नवोदयम्**—नवः नूतनः उदयः यस्य स नवोदयः तम् ।

टिप्पणियाँ—अदर्शनेन—न देखने के कारण । राजा दिलीप पुत्रप्राप्ति हेतु बहुत दिनों से ऋषि वसिष्ठ के आश्रम् में गोसेवा रूप व्रत का आचरण कर रहे थे । इस कारण प्रजा के लोग बहुत समय से उनका दर्शन नहीं कर सके थे । चन्द्रपक्ष में कृष्णपक्ष के कारण चन्द्र दर्शन भी अधिक दिनों से न हो सका था । **आहितौत्सुक्यम्**—देखने की उत्सुकता पैदा कर दी है जिसने (ऐसे राजा ने) । यह राजा तथा चन्द्रमा दोनों का विशेषण है । दोनों पक्षों में यही अर्थ होगा । **प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्**—सन्तान-प्राप्ति के निमित्त किये गये व्रत के कारण जिसने अपने शरीर को कृश अर्थात् दुर्बल बना लिया है (ऐसे राजा को) । यह भी राजा तथा चन्द्रमा दोनों का विशेषण है । राजा पक्ष में इसका अर्थ करना होगा—सन्तान-प्राप्ति हेतु किये गये व्रत के कारण क्षीणता को प्राप्त हुये शरीर वाले—प्रजार्थ (सन्तानार्थ) व्रतं इति प्रजार्थ व्रतं तेन कर्शितं अङ्गं यस्य स तम् । चन्द्र-पक्ष में इसका अर्थ होगा—लोक-कल्याण हेतु चन्द्रमा अपनी कलाओं का दान देवताओं के लिये कर दिया करता है । अतः वह भी क्षीणता को प्राप्त हो जाया करता है ।—प्रजार्थं (लोकहितार्थं) एव व्रतं तेन कर्शितं (कलाक्षयत् कृशतां गतम्) अंगम् यस्य सः तम् । इस सम्बन्ध में प्रमाण देखिये—

"पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशसोः कलाक्षयः श्लाध्यतरो हि वृद्धेः ।'

'तं च सोमं पपुर्देवथाः पर्यायेणानुपूर्वश, इति व्यासः

"कला षोडश सोमस्य शुक्ले वर्धयते रविम् ।

अमृतेनामृतं कृष्णे पीयते दैवतैः क्रमात् ॥"

नवोदयम्—नवीनरूप से उदित हुये को । यह भी दोनों का विशेषण है । शुक्लपक्ष में जब चन्द्रमा उदित होता है तो बड़ी उत्सुकता से लोग उसे देखा करते हैं । राजा भी बहुत समय पश्चात् लौटकर अपनी राजधानी में आया , अतः उसे भी प्रजाजन उत्सुकतापूर्ण सतृष्ण नेत्रों से ही देख रहे हैं । राजा पक्ष में 'उदयः' का अर्थ होगा—"स्वनगरे पुनरागमनम्" । **औषधीनांनाथम्**—

चन्द्रमा को। औषधियों का पति 'चन्द्रमा' माना गया है क्योंकि चन्द्रमा ही सभी पौधों, वृक्षों तथा वनस्पतियों आदि में 'रस' को प्रदान किया करता है। इसी से वे जीवित रहते हैं तथा बढ़ते भी हैं। तृप्तिम् = तृप्ति को—सन्तोष को। अनाप्नुवद्भिः—न प्राप्त करते हुये। प्रजा के लिये (अयोध्यावासी जन) राजा को सतृष्ण-नेत्रों से देख रहे थे किन्तु फिर भी वे तृप्ति का अनुभव नहीं कर पा रहे थे। पपुः—पिया। नेत्रों से अर्थात् प्रेम भरी दृष्टि से देखा। □

प्रसङ्ग—नागरिक अभिनन्दन के पश्चात् राजा दिलीप ने पुनः राज्य-भार संभाला—

पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धूरमाससञ्ज ॥७४॥

अन्वयः—पुरंदरश्रीः सः पौरैः अभिनन्द्यमानः उत्पताकं पुरं प्रविश्य भुजगेन्द्रसमानसारे भुजे भूयः भूमेः धुरम् आससञ्ज ॥७४॥

संस्कृत-व्याख्या—पुरंदरश्री—पुरं असुरपुरीः दारयति भिनत्तीति पुरन्दरः—इन्द्र तस्य श्री शोभा इव शोभा यस्य सः पुरन्दरश्रीः—इन्द्रशोभः, सः = राजा दिलीपः, पौरैः—नागरिकैः—अयोध्यावासिनैः इत्यर्थः अभिनन्द्यमानः। उत्पताकम् = उच्छितध्वजम्, पुरम् = नगरम्, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, भुजगेन्द्रसमानसारे = भुजंगानाम् सर्पाणां इन्द्रः राजा वासुकिरित्यर्थः तेन समान सदृशः सारः बलं यस्य तस्मिन् भुजगेन्द्रसमानसारे—सर्पराजतुल्यबले, भुजे—बाहौ, भूयः = पुनः। भूमे = पृथिव्याः, धुरम्—भारम्, आसञ्ज = धारयामास (इन्द्रतुल्यलक्ष्मीकः) स राजा दिलीपः अयोध्यावासिभिः जनैः अभिनन्द्यमानः उन्नतध्वजं नगरं प्रविश्य सर्पराजसदृशबले स्वकीये भुजे पृथिव्याः राज्य-भारं पुनः धृतवान् अर्थात् पुनः स्वभुजबलेन राज्यसंरक्षणे संलग्नोऽभवत् इति भावः।]

हिन्दी-व्याख्या—(पुरन्दरश्रीः) इन्द्र सदृश कान्ति को धारण करने वाले (सः) उस राजा दिलीप ने (पौरैः) अयोध्या निवासी लोगों के द्वारा (अभिनन्द्यमानः) अभिनन्दन किये जाते हुये (उत्पताकम्) उन्नत ध्वजाओं से युक्त (पुरम्) अयोध्या नामक नगर में (प्रविश्य) प्रवेश करके (भुजगेन्द्रसमानसारे) सर्पराज

वासुकि के समान बलशाली (भुजे) (अपनी) भुजा पर (भूयः) पुनः (भूमेः) पृथ्वी के (धुरम्) भार को (अ ससञ्ज) धारण किया।

भावार्थ—इन्द्र सदृश तेज सम्पन्न राजा दिलीप जब वसिष्ठ मुनि के आश्रम से लौटकर अपनी राजधानी में आये तो उस समय नगर-निवासियों [अयोध्यावासियों] ने उनका उचित अभिनन्दन किया। तदनन्तर राजा ने उन्नत ध्वजाओं से सुशोभित नगर (अयोध्या) में प्रवेश करके अपनी सर्पराज वासुकि के समान बलशाली भुजा पर पृथिवी के भार को पुनः धारण कर लिया अर्थात् उन्होंने पुनः अपने बाहुबल के आधार पर पृथिवी के पालन रूप भार को धारण कर लिया।

अलङ्कार—उक्त श्लोक में 'वृत्यनुप्रास' तथा 'उपमा' अलङ्कार है।

व्याकरण—पौरैः=पुर + अण् (भाव र्थक)=वृद्धि होकर पौरः—तृतीया विभक्ति के बहुवचन में। अभिनन्द्यमानः—अभि + नद् + शानच् (आ) + मुक् (म) यक् (य)। आससञ्ज—आ + सञ्ज् + लिट् = प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप।

समास—पुरन्दरश्रीः—पुरं दारयतीति पुरन्दरः तस्य श्रीः इव श्री यस्य सः। उत्पताकम्=उद्गताः पताका यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि)। पौरैः—पुरे भावः लोगाः तैः। भुजगेन्द्रसमानसारे=भुजैः गच्छन्तीति=भुजंगाः, भुजंगानामिन्द्रः भुजगेन्द्रः, तेन समानः सारः यस्य तस्मिन्।

टिप्पणियाँ— पुरन्दरश्रीः=इन्द्र के सदृश शोभा वाला स्वर्गाधिपति इन्द्र की शोभा (कान्ति) के सदृश है कान्ति जिसकी=ऐसा राजा दिलीप। पौरैः=नागरिकों द्वारा, अयोध्या निवासियों द्वारा। अभिनन्द्यमानः—अभिनन्दन किया जाता हुआ=अर्थात् जिस राजा दिलीप का अभिनन्दन अयोध्या-निवासी लोगों द्वारा किया जा रहा था। उत्पताकम्=जिस स्थान की पताकायें उन्नत थीं अर्थात् आकाश में फहरा रही थीं। पुरः प्रविश्य—नगर (अयोध्या) में प्रवेश करके। [भुजगेन्द्रसमानसारे—सर्पों के राजा वासुकि के समान शक्तिशाली। भुजे—अपनी] भुजा पर। भूमेः—पृथिवी के। धुरम्—भार को—पृथिवी पर स्थित प्राणियों के पालनरूप भार को। आससञ्ज—धारण किया अर्थात् पुनः पूर्ववत् राज्यभार को ग्रहण कर लिया। □

प्रसङ्ग—राजधानी लौटने के कुछ समय के पश्चात् रानी सुदक्षिणा ने गर्भ-धारण किया—

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः,
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी,
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

अन्वयः—अथ द्यौः अत्रेः नयनसमुत्थं ज्योतिः इव, सुरसरित् वह्निनिष्ठ्यूतं ऐशं तेजः इव, राज्ञी नरपतिकुलभूत्यै गुरुभिः लोकपालानुभावैः अभिनिविष्टं गर्भं आधत्त ॥७५॥

संस्कृत व्याख्या—अथ = किञ्चिद्कालारान्तरम्, द्यौः = आकाशम् अत्रेः = तदाख्यमहर्षेः, नयनसमुत्थम् = नयनयोः नेत्रयोः समुत्थं उत्पन्नम्, ज्योतिः इव = तेजः इव चन्द्रमिवेत्यर्थः सुरसरित् = देवनदी गंगा, वह्निनिष्ठ्यूतम् = वह्निना अग्निदेवेन निष्ठ्यूतं, निक्षिप्तम्, ऐशम् = शैवं—शंकरसम्बन्धीत्यर्थः, तेजः = स्कन्दम्, इव = यथा, राज्ञी = राजपत्नी सुदक्षिणा, नरपतिकुलभूत्यै नराणां मानवानां पतिः स्वामी तस्य कुलस्य वंशस्य भूतिः उन्नतिः तस्यै नरपतिकुलभूत्यै = राजकुलसमृद्ध्यै- गुरुभिः = श्रेष्ठैः, लोकपालानुभावैः = लोकपालानां इन्द्रादि अष्टलोकपालानां अनुभावैः तेजोभिः, अभिनिविष्टम् = अनुप्रविष्टम् = हरिपूर्णं वा, गर्भम्, भ्रूणम, आधत्त = धृतवती [यथा व्योम अत्रेः मुनेः नेत्रोत्पन्नं चन्द्रं धृतवती, देवनदी गंगा अग्निप्रक्षिप्तं स्कन्दस्योत्पादकं तेजः दधार तथैव राजपत्नी सुदक्षिणा अपि दिलीपवंशस्थापनार्थं महद्भिः अष्टलोकपालानां तेजोभिः परिपूर्णं गर्भं धृतवतीति भावः ।]

हिन्दी-व्याख्या—(अथ) कुछ समय बीतने के अनन्तर (द्यौः) आकाश ने [इव—जिस भाँति] (अत्रेः) अत्रि-मुनि के (नयनसमुत्थम्) नेत्रों से उत्पन्न (ज्योतिः) प्रकाश अर्थात् चन्द्र को, (सुरसरित्) देवनदी गङ्गा ने [इव—जिस भाँति] (वह्निनिष्ठ्यूतम्)अग्नि द्वारा फेंके गये हुये (ऐशम्) शिवजी के (तेजः) तेज को धारण किया था उसी भाँति (राज्ञी) महारानी सुदक्षिणा ने (नरपतिकुलभूत्यै) राजा दिलीप के कुल की समृद्धि के लिये (गुरुभिः) महान् (लोकपालानुभावैः) इन्द्रादि आठ लोकपालों के तेजों से (अभिनिविष्टम्) परिपूर्ण (गर्भम्) गर्भ को (आधत्त) धारण किया ।

भावार्थ—राजधानी (अयोध्या) लौटने के कुछ दिनों पश्चात् महारानी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप के वंश को आगे बढ़ाने के लिये इन्द्र आदि आठ

लोकपालों के तेज से परिपूर्ण (सम्पन्न) गर्भ को उसी भाँति धारण किया कि जिस भाँति प्राचीन समय में आकाश द्वारा अत्रि-मुनि के नेत्रों से उत्पन्न चन्द्रमा को तथा देवनदी गंगा द्वारा अग्नि द्वारा फेंका गया हुआ शिवजी का तेज (वीर्य) धारण किया गया था।

अलङ्कार—इस श्लोक में एक ही उपमेय के लिये एक से अधिक उपमानों का वर्णन किये जाने से "मालोपमा" अलङ्कार है।

व्याकरण—समुत्थम्—सम् + उत् + स्था—"आतोश्चोपसर्गे" से—'क' (अ) प्रत्यय तथा धातु के 'आ' का लोप होकर समुत्थम्। निष्ठ्यूतम्—नि + ष्ठीव् + क्त (त) धातु के 'व' को ऊठ (ऊ) यणादेश होकर निष्ठ्यूतम्। **ऐशम्**—ईश + अण् (अ) | "तस्येदम्" सूत्र से—'ई' को वृद्धि होकर—ऐशम्। **राज्ञी**—राजन् + ङीप् (ई) 'ज' के 'अ' का लोप। **लोकपाल**—लोक + पाल् + अण्। अनुभाव—अनु + भू + घञ् (अ) 'ऊ' को वृद्धि तथा तदनन्तर आवादेश होकर—अनुभाव। **अभिनिविष्टम्**—अभि + नि + विश् + क्त (त)। **आधत्त**—आ + धा + लङ् प्रथम पुरुष एकवचन।

समास—नयनसमुत्थम्—नयनो: समुत्थं प्रादुर्भूतम् इति। **सुरसरित्**—सुराणां सरित् सुरसरित् (षष्ठी तत्पुरुष समास)। **वह्निनिष्ठ्यूतम्**—वह्निना निष्ठ्यूतम् इति वह्निनिष्ठ्यूतम्। **नरपतिकुलभूत्यै**:—नराणां पतिः नरपतिः तस्य कुलमिति नरपतिकुलम्, तस्य भूतः इति नरपतिकुलभूतिः तस्यै **लोकपालानुभावैः**—लोकान् पालयन्तीति लोकपालाः तेषां अनुभावाः लोकपालानुभावाः तैः।

टिप्पणियाँ—अथ—अनन्तर, पश्चात्। अयोध्या आ जाने के कुछ दिनों के पश्चात्। **अत्रेः**—अत्रिमुनि के। **नयनसमुत्थम्**—आँखों से उत्पन्न हुई। **ज्योतिः**—प्रकाश, तेज। **अत्रेः—नयनसमुत्थं ज्योतिः**—मुनि अत्रि की आँखों से उत्पन्न प्रकाश अर्थात् चन्द्रमा। हरिवंशपुराण में इससे सम्बन्धित कथा का वर्णन आता है जिससे विदित होता है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रिमुनि के नेत्रों से निकली हुई ज्योति से हुयी थी। इस सन्दर्भ में टीकाकार मल्लिनाथ ने उक्त पुराण से निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत किया—

'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद् दिशः।
तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा॥

समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ।
स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः ॥
पपात भासयल्लोकाञ्शीतांशुः सर्वभावनः ॥"

अर्थात् ध्यानावस्था में विद्यमान अत्रिमुनि के नेत्रों से कुछ जलबिन्दु गिरे जिनसे दशों दिशायें देदीप्यमान हो उठीं। तदनन्तर उन जलबिन्दुओं को दशों दिशाओं ने गर्भ के रूप में धारण कर लिया। किन्तु वे भी इन जलबिन्दुओं को धारण कर सकने में समर्थ न हो सकीं। फलतः ये जलबिन्दु बाहर निकलकर आकाश में व्याप्त हो गये और अन्त में यही जलबिन्दु चन्द्रमा के रूप में परिणत हो गये। बह्निनिष्ठ्यूतम्—अग्नि द्वारा प्रक्षिप्त आग के द्वारा फेंका गया हुआ। ऐशम्—ईश अर्थात् शिव सम्बन्धी (ईशस्य शिवस्येदमिति ऐशम्)। सुरसरित्–देवनदी—गंगा। शिवजी द्वारा अपने तेज को दिये जाने सम्बन्धी वर्णन के सन्दर्भ में टीकाकार मल्लिनाथ ने वाल्मीकि रामायण के निम्नलिखित श्लोकों को उद्धृत किया है—

"ते गत्वा पर्वतं राम कैलाशं धातुमण्डितम् ।
अग्नि नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥
देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गंगायां तेज उत्सृज ॥
देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् ॥
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवतीर्य च ॥
समन्तस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गया रघुनन्दन ! ॥ इति ॥

अर्थात् एक समय तारकासुर से अत्यधिक पीड़ित होकर देवताओं ने भगवान् शिव के समीप पहुँचकर उनसे प्रार्थना की कि हे भगवान् ! आप इस तारकासुर के वध के लिये अपना तेज दीजिये। शिव द्वारा प्रदत्त इस तेज को पार्वतीजी धारण न कर सकीं। परिणामस्वरूप इसे अग्नि को दिया गया। किन्तु अग्नि ने भी अपनी असमर्थता समझते हुये जब इस तेज को धारण करने हेतु गंगाजी से कहा तब उस तेज को गंगा ने धारण किया (इस भाँति यह तेज अग्नि द्वारा गंगा में फेंका गया) और फिर उससे स्कन्द (कार्तिकेय) की उत्पत्ति हुई।

नरपतिकुलभूत्यैः—राजा दिलीप के वंश की वृद्धि के निमित्त। **लोकपालानुभावैः**—इन्द्रादि आठ दिक्पालों रूपी लोकपालों के तेजों से। **अभिनिविष्टम्**—परिपूर्ण, युक्त। मनुस्मृति के अनुसार राजा में आठ लोकपालों का तेज विद्यमान रहा करता है—"अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः"। इति॥ कहने का तात्पर्य यह है कि राजा के शरीर के अन्दर आठ लोकपालों का अंश अथवा तेज विद्यमान रहा करता है। इसी कारण साधारण पुरुषों की अपेक्षा राजा कहीं अधिक तेज सम्पन्न हुआ करता है। अतः रानी सुदक्षिणा ने लोकपालों के महान् तेज से परिपूर्ण गर्भ को धारण किया।

आधत्त—धारण किया।

छन्दः—प्रस्तुत श्लोक में "मालिनी" नामक छन्द है। लक्षणः—'न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः' अर्थात् जिस वृत्त में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, यगण—ये १५ वर्ण हुआ करते हैं उसको मालिनी-वृत्त अथवा छन्द कहा जाता है।

नगण	नगण	मगण	यगण	यगण
। । ।	। । ।	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ	। ऽ ऽ
अ थ न	य न स	मु त्थं ज्यो	ति र त्र	रि व द्यौः
। । ।	। । ।	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ	। ऽ ऽ
सु र स	रि दि व	ते जो व	ह्नि निष्ठ्य	त मै शं
। । ।	। । ।	ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ
न र प	ति कु ल	भू त्यै ग	र्भ मा ध	त्त रा ज्ञी
। । ।	। । ।	ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ
गु रु भि	र वि नि	वि ष्टं लो	क पा ला	नु भा वैः

विशेष—महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार सर्ग के अन्त में छन्द का बदल जाना आवश्यक है। इसी नियम के अनुसार इस अन्तिम श्लोक में 'मालिनी' नामक छन्द रखा गया है। इस अन्तिम श्लोक को छोड़कर शेष सभी श्लोकों में 'उपजाति' नामक छन्द है, जिसका लक्षण प्रथम श्लोक की व्याख्या में दिया जा चुका है।

परिशिष्ट [1]

रघुवंश (द्वितीय सर्ग) में

कालिदास द्वारा प्रयुक्त कुछ प्रमुख सुभाषित अथवा सूक्तियाँ—

रघुवंशम्—

१. प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि—रघु०—२/२२॥

२. न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥२/३४॥

३. शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥२/४०॥

४. सम्बन्धमाभाषणपूर्णमाहुः ॥२/५८॥

५. पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥३/६२॥ अर्थात् गुणों का आदर सर्वत्र होता है।

६. भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥६/३०॥ ससार में लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है।

७. विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥८/४६॥ अर्थात् भगवान् की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाया करता है और कहीं अमृत भी विष हो जाता है।

८. तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥११/१॥ तेजस्वियों के बारे में यह विचार नहीं किया जाता कि वे छोटे हैं अथवा बड़े।

महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में कही गयी उक्तियाँ—

१. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

२. उपमा कालिदासस्य नोत्कृष्टेति मतं मम।
अर्थान्तरस्य विन्यासे कालिदासो विशिष्यते॥

३. पुराकवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

४. निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥
[बाण-हर्षचरित-भूमिका-श्लोक संख्या १६]

५. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥
[राजशेखर सूक्तिमुक्तावली]

६. साकूतमधुरकोमलविलासिनी कण्ठकूजितप्राये ।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतलीलाकालिदासोक्ति ॥
[गोवर्धनाचार्य-आर्यासप्तशती-भूमिका-श्लोक-सं० ३६]

७. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः ।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय ॥
[जयदेव, प्रसन्नराघव १/२२॥]

८. भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्री साहसाङ्कः कविः ।
मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः ।
दण्डीबाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ।
[राजशेखर, शार्ङ्गधरपद्धति-श्लोक सं० १८८]

९. माघश्चोरो मयूरो मुररिपुरपरो भारविः सारविद्यः ।
श्रीहर्षः कालिदासः कविरथ भवभूत्यादयो भोजराजः ।
श्री दण्डी डिण्डिमाख्यः श्रुतिमुकुटगुरुर्भल्लटो भट्टबाणः
ख्याताश्चान्ये सुबन्ध्वादय इह कृतिभिर्विश्वमाह्लादयन्ति ॥
[विश्वगुणादर्शचम्पू श्लोक ५४६]

१०. धन्वतरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु वेताल भट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ॥
[ज्योतिर्विदाभरण—२२/१०]

११. श्री कालिदासकविवर्यसरस्वतीयं किं वर्णयाम्यतितरां रसवाहिनीति ।
यत् कालिका भगवती शुचिभावयोगाद् । यस्यामहो मुहुरग्रहमादधाति ।
[विठोबाअण्णा, सुश्लोकराघव ४१७-१८]

१२. येनायोजितवेश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिन वेश्म ।
सजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥
[एहोल शिलालेख (पुलकेशी द्वितीय) शक-संवत् ५५६ (६३४ ई०)]

१३. लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः ।
तनेद वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम् ॥
[दण्डी, अवन्तिसुन्दरीकथा-भूमिका, श्लोक सं० १५]

१४. अनघा गुणसम्पूर्णा समुचितविच्छित्तिवृत्तिरीरसौ ।
प्रस्तुतरससन्दोहा सरस्वती जयति कालिदासस्य ॥
१५. बाल्मीकरजनि प्रकाशितगुणा व्यासेन लीलावती ।
वैदर्भी कविता स्वयं वृतवती श्रीकालिदासं वरम् ।
याऽसूतामरसिंहमाघधनिकान् सेयं जरा नीरसा ।
शून्यालंकरणा स्खलन्मधुपदा कं वा जनं नाश्रिता ॥
१६. कालिदासकविता नवं वयो माहिषंदधि सशर्करं पयः ।
शारदेन्दुज्वला च कोमला स्वर्गसौख्यमुपभुञ्जते नराः ॥
१७. कव्यः कालिदास द्याः कवयो वयमप्यमी ।
पर्वते परमाणौ च पदार्थत्वं प्रतिष्ठितम् ॥
१८. ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य ।
वाणीमिषाच्चण्डगरीचिगोत्र सिन्धोःपरं पारमवाप कीर्तिः ॥ [सोड्ढल]
१९. अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव प्रकामहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ।
२०. पुष्पेषु जातिर्नगरीषु काञ्ची नदीषु गंगा कविकालिदासः ॥
२१. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते ॥
२२. कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद् विदुर्नान्येतु मादृशाः ॥ [टीकाकार-मल्लिनाथ ।]

महाकवि-कालिदास के सर्वश्रेष्ठ नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम् के बारे में कही गयी उक्तियाँ—

२३. काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः यत्र श्लोकचतुष्टयम् ।
२४. कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः यत्र याति शकुन्तला ।
२५. शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वोत्कृष्टः इति प्रथा ।
न सर्वसमता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः ॥
२६. वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्,
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥
[गेटे द्वारा कथित वचनों का म० म० मिराशी द्वारा किया गया पद्यानुवाद ।]

परिशिष्ट [२]

रघुवंशमहाकाव्यम्

द्वितीय सर्ग
की
"श्लोकानुक्रमणिका"

श्लोक संख्या

'क'

'ग'

'त'

'ध'

'न'

इत्युत्तरप्रदेशान्तर्गतमैनपुरीमण्डलान्तर्गतमहावतपुरग्रामवास्तव्यस्य श्रीमतः दयानन्दमहोदयस्य श्रीमत्याः सुखदेव्याश्च पुत्रेणाचार्यसुरेन्द्रदेवशास्त्रिणा कृतया 'आशुबोधिनी' व्याख्यया समन्विते रघुवंशे महाकाव्ये ।

नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

कृतया 'आशुबोधिनी' व्याख्यया समन्वितं रघुवंशे महाकाव्ये ।

नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ॥